

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180475

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—23—4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. *H 83 / m 67 B* Accession No. *G. H. 15*

Author *मिश्र दशमोक्तः ।*

Title *बुद्धस्य दीपः । 1955*

This book should be returned on or before the date
last marked below.

बुभुते दीप

हमारा रोचक उपन्यास-साहित्य

गराबी	पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ३॥)
समाधान	रामावतार त्यागी २)
निशिकान्त	विष्णु प्रभाकर ६)
बुभुक्षे दीप	दयाशंकर मिश्र ३)
विसर्जन	प्रतापनारायण श्रीवास्तव ६)
चोर की प्रेमिका (सचित्र)	आर० कृष्णमूर्ति ४)
इन्सान	यजदत्त शर्मा ४)
डूबते मस्तूल	नरेश मेहता ४॥)
जंजर हथौड़े	बरुघा ६)
परेड घाउंड	हंसराज 'रहवर' १॥)
अपराजिता	आचार्य चतुरसेन शास्त्री २)
बिद्रूप	पृथ्वीनाथ शर्मा ३॥)
हृदय-मंथ	सीताचरण दीक्षित ५)
तीस दिन	संतोषनारायण नौटियाल ३)
हरिजन	संतोषनारायण नौटियाल ४)
अछूत	मुल्कराज ग्रानन्द १॥)
बारक छाया	लक्ष्मण त्रिपाठी २)
आत्मदान	विजयकुमार पुजारी ३)
चुनौती (सचित्र)	तक्षी शिवशंकर पिल्ले २॥)
राधा और राजन	बलभद्र ठाकुर ४॥)
पुनरुद्धार	कंचनलता सब्बरवाल ३)
धरती के लाल (हटड्वैलर्स)	अनु० वीरेन्द्र त्रिपाठी २)
मानव की परख	देवीदयाल सेन ३॥)
जी जी जी	पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' २॥)
गंगा माता	पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' प्रेस में
जल-समाधि	गाविन्दवल्लभ पंत ३॥)
युगपुरुष राम (सचित्र)	अक्षय कुमार जैन ४)
सिद्धार्थ (हरमन हेस)	अनु० महावीर अधिकारी २)
आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६	

बुभुते दीप

[सामाजिक उपन्यास]

लेखक

दयाशंकर मिश्र

सादर समालोचनार्थ

१९५५

आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

मूल्य ३)

सूचक
अमरजीतसिंह नलवा
सागर प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

सरस्वती के वरद पुत्र—

डॉ० नगेन्द्र को

प्रकाशक की ओर से

सादर सम्बन्ध



‘बुझते दीप’ परम्परा और जीवन की पुकार के बीच होने वाले चिरंतन संघर्ष की कहानी है ।

परम्परा के पुजारी जिसकी महिमा गाते-गाते अघाते नहीं, वे हैं— सती धर्म और एकनिष्ठ प्रेम किन्तु जीवन की जो सनातन पुकार है उसकी ओर उनका ध्यान नहीं जाता ।

सतीत्व और एकनिष्ठ प्रेम के प्रति लेखक के मन में भी श्रद्धा और सम्मान कम नहीं है किन्तु उक्त दोनों बातों को लेकर समाज में जिस ढोंग की सृष्टि हुई है, जिस प्रकार मिथ्या को सत्य का चोला पहिनाया गया है, वह असह्य है ।

युगों-युगों से परम्परा के नाम पर अनेक निष्ठुर मिथ्या धारणाओं की पूजा होती आ रही है किन्तु जीवन के प्रति ईमानदार रहने का संकल्प लेकर बढ़ने वालों को सदा ही इन परम्पराओं से जूझना पड़ा है ।

शास्त्र वाक्य की अप्रतिष्ठा करना मेरा उद्देश्य नहीं है किन्तु आज जिस आर्थिक एवं सामाजिक अवस्था के बीच हम जी रहे हैं उससे आँख मूंदकर तो नहीं चला जा सकता ।

मैं जानता हूँ कि समाज में परम्परा को तोड़ना अक्षम्य अपराध है । उससे लाँछना और छिः-छिः की ही उपलब्धि होगी किन्तु साथ ही इस तथ्य का भी मुझे परिज्ञान है कि उपेक्षा-अनादर ही सदा-सदा के लिए मेरे जीवन का सत्य नहीं रहेगा । अनागत भविष्य में आज का ‘पाप’ ‘पुण्य’ की अभिधा से विभूषित हो उठेगा और वही मेरा और मेरी पीढ़ी का दिन होगा । इसी आशा के साथ...

लेखक

बुभुते दीप

१

कौन जानता था कि अपने अभागे जीवन की, सुख-दुख-मरी यह कहानी मुझे अपने हाथों ही लिखनी पड़ेगी ।

एक बोझा-सा लादे वर्षों से भटकती आ रही हूँ । सोचा था मिथा भस्म हो चुकी है किन्तु आज लगता है जैसे उस राख के नीचे अब भी दहकते अंगारे शेष हैं जो मुझे जलाये डालते हैं । अपनी घनी-भूत पीड़ा के इन अंगारों को आँसुओं की बूँदों से जब न बुझा पायी तब आज लिखने बैठ गयी हूँ । नहीं जानती लिखकर भी बुझा सकूँगी या नहीं ।

उस दिन की वह साँझ मैं कभी नहीं भूल पाती । मेरे एम० ए० का परीक्षाफल प्रकाशित हुआ था । समूची यूनिवर्सिटी में मेरा प्रथम स्थान रहा था । बेटी की इस सफलता पर पिताजी को जो अपरिसीमित आनन्द हुआ था सो आज भी मुझे याद है । कुछ परिचितों एवं परिजनों को निमंत्रित किया था । वर्षों की परित्यक्ता वीणा को उठाकर पिताजी ने इस प्रकार डूबकर बजाया कि आमंत्रित नर-नारी मंत्र-मुग्ध-से रह गये थे ।

तब अन्त में पिताजी ने एक गीत सुनाने का आग्रह किया था । मैं गा रही थी और गाते-गाते आगन्तुक अतिथियों के चेहरों पर अपने गीत का प्रभाव उड़ती आँखों से देख रही थी ।

तभी मैंने देखा सामने वाले दालान में द्वार के पास दूधवाला भइया एक हाथ में दूध मापने का पात्र लटकाये अति भावुक आँखों से मेरी ओर निहार रहा है। पता नहीं क्यों उसका इस प्रकार अपनी ओर निहारना मुझे बहुत बुरा लगा।

उस दूधवाले की वह धृष्टता मैं किसी भी प्रकार न सह पायी। गीत समाप्त करके मैं सीधी उस ओर गयी।

वह अब भी वैसा ही डूबा-सा खड़ा था। क्रोध में मेरी मुट्टियाँ बँध उठीं। मैंने काँपते कण्ठ से कहा—“गेट आउट यू रेस्केल !” और वह चुपचाप बाहर चला गया।

पता नहीं क्यों उस रात एक पल के लिए भी आँख न लगी। जैसे ही सोने के लिए मैं पलक बन्द करती जैसे ही उस दूध वाले की वे भावुक आँखें मेरी ओर निहारने लगतीं।

बम्बई में रात दो घंटे के लिए होती है। इधर लगभग १२ बजे तक होटल, सिनेमाघर आदि चलते रहते हैं और उधर दो बजे से फिर बाजार में चहल-पहल प्रारम्भ हो जाती है। उस रात पड़ी-पड़ी जाने कितनी बातें सोचती रही।

कभी सोचती—जो रात सोने के लिए भगवान ने बनायी है उसी में आज का यह प्रगतिशील मानव जागता है। प्रकृति के विरुद्ध जाकर ही तो उसने ये नये-नये रोग ग्रहण कर लिये हैं। पहिले कौन ऐनक लगाता था ?

आज जिसे देखो वही आँखों पर ऐनक धरे भटक रहा है। खाते हैं स्वाद के लिए जैसे भूख तो किसी को रही ही नहीं है। ... जाने क्या-क्या बे सिर-पैर की बातें पड़ी-पड़ी सोचे जा रही थी फिर ध्यान आया—क्यों कहा मैंने उसे ‘रेस्केल’ ?

गीत सुनना क्या अपराध है ? दरिद्र अशिक्षित दूधवाला ! उसने उस प्रकार से मेरी ओर देखने का साहस ही क्यों किया ? क्यों किया ? क्यों ? क्यों ? अच्छा ही

किया जो मैंने उसे अपमानित करके घर से निकाल दिया ।

उसे गाली देकर निकाले जाने के पक्ष में जितना ही सोचती उतना ही न जाने क्यों मन विरस-सा हो उठता । तभी नीचे के फाटक पर 'दूध !' शब्द सुन पड़ा । दूध के पात्र की खटकन के साथ दूध वाला भइया दालान में आ गया ।

दालान में रात भर विजली जला करती थी । उसी विद्युत्-प्रकाश में मैंने देखा । देखकर जैसे निराशा के गर्त में जा पड़ी । आज उस भइया के स्थान पर पहिले वाला बूढ़ा भइया दूध देने आया था । सिर में उसके पट्टी बँधी थी । सोचने लगी—वह क्यों नहीं आया ? क्यों ? बहुत बुरा लगा होगा ?

फिर लेटे-लेटे ही सोचने लगी—कैसी हूँ मैं भी ? एक साधारण दूध वाले को गाली दे ही दी तो हुआ क्या ? वह नहीं आया तो न सही । न आये !

मैंने ही तो उसे बाहर निकाला था । बाहर निकालने का अर्थ भी तो प्रकारान्तर से यही है कि वह अन्दर न आये, वह मेरे घर न आये । वही तो उसने किया है फिर मैंने क्यों आज बिना पलक झपकाये सारी रात बिता दी ?

आज सोचती हूँ—मेरी इस बात पर कौन विश्वास करेगा कि इस तनिक-सी बात को लेकर कोई रात भर बिस्तर पर पड़ा छटपटाता रहा होगा किन्तु हुआ यही था ।

धीरे-धीरे मैं उस घटना को भूल-सी गई और जब कभी याद भी आ जाती तो मात्र हँस पड़ती । कभी मुझे स्वयं ही आश्चर्य होता कि तनिक-सी बात को लेकर कैसे उस दिन सारी रात जागती रही थी । सोचते-सोचते उसकी आँखें शून्य आकाश के नील पट पर चित्रित-सी हो उठती थीं ।

जाने कितने नर्तक और नर्तकियों के नृत्य जीवन में देखे हैं । उनकी आँखों द्वारा प्रदर्शित भावों को भी देखा है किन्तु वैसी

सजीवता ! वैसी मुग्ध आँखें मैंने कभी न देखी थीं, न आज तक देख पाई ।

कभी सोचती—तो क्या मैं उसकी धृष्टता का दण्ड देने न जाकर, मैं गई थी मात्र उसकी उन मुग्ध आँखों को अति निकट से देख लेने के लिए ? तो फिर उसे बाहर क्यों निकाला ? क्यों ? तभी लगता जैसे अन्तर में बैठा कोई कह रहा है वह था तेरा बंशानुगत दर्प, नारी का सहज अभिमान, निम्न वर्ग के प्रति पीढ़ियों से चली आई घृणा ! उच्चवर्गीय 'अहं' एरिस्टोक्रैस और फिर धीरे-धीरे मैं सब कुछ भूल गई ।

उस दिन सुबह से हलकी-हलकी रिमझिम हो रही थी । मैं अकेली कमरे में लेटी छटपटा-सी रही थी । बार-बार हाथों को एक दूसरे में भींच-भींचकर बड़बड़ा उठती थी—कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ?

खिड़की से फुहारें उड़-उड़कर मुँह पर आ रही थीं । जीवन में जाने कितनी बार वैसी फुहारें उड़-उड़कर मेरे श्रृंगों पर गिरी होंगी । किन्तु उस दिन की वह अनुभूति कैसी विचित्र थी ! उन उड़ती शीत फुहारों के स्पर्श मात्र से मैं सिहर उठती थी ।

पता नहीं कब बिछौने से उठकर उन फुहारों में डूब जाने के लिए खिड़की में भाँकती-सी खड़ी हो गयी । तभी किसी ने कमरे का द्वार खोला । माँ हाथ में एक लिफाफा लिये खड़ी थीं ।

कृत्रिम आक्रोश भरे स्वर में बोली—“लली ! तू क्या पागल हो गयी है । सुबह ही सुबह उठकर सारे बाल पानी में भिगो लिये । जुकाम नहीं हो जायेगा ? चल बाल पोंछ ।” कहते-कहते माँ ने बिछौने पर बिठा लिया । फिर पास ही टैंगी तौलिया को एक हाथ से खींचकर मेरे बालों को पोंछने लगी ।

उस लिफाफे को सामने रखकर बोली—“दो दिन से यह लिफाफा उस पियानो के कवर पर पड़ा है । तुझे अपने प्रोग्राम

का भी कुछ ध्यान रहता है ? क्या जायेगी वहाँ ? जाये तो पिता जी से कह देना गाड़ी जल्दी भेज देंगे !”

“कवि सम्मेलन में ?”

“हाँ !”

“ऐ ! अच्छा जाऊँगी !”

“तुझे क्यों बुलाया है ? तू तो कविता नहीं करती !”

“प्रारम्भ में एक गीत गाने के लिए कह रहे हैं ।”

“पानी तो ऐसा बरस रहा है कहाँ होगा यह सम्मेलन ?”

“नरीमेन हॉल में ।”

“अच्छा ! तो मैं हो ड्राइवर से कहे देती हूँ ।”

कहते-कहते माँ वहाँ से उठकर चली गयी !

मैं बिछौने पर पड़ी-पड़ी सोचने लगी—क्या है मेरे जीवन का उद्देश्य ? एम० ए० कर लिया । क्या बना एम० ए० करके ? तब लगता जैसे यूनिवर्सिटी सुबह जाना और तीसरे पहर लौट आना ही जीवन का उद्देश्य था । उसी के सहारे जिये जारही थी । जैसे वह अब छिन गया है, एक प्रकार की जड़ता ने जैसे मुझे ग्रस लिया हो ।

मन चारों ओर उड़ जाता किन्तु कहीं कुछ ऐसा पकड़ में नहीं आता जिसके लिए, जिसके सहारे आगे बढ़ने की उम्मीद, उल्लास, आह्लाद होता ।

लगता जैसे मेरे जीवन का उद्देश्य है कभी-कभी सभा-सोसायटियों में जाकर गीत गा देना ! गीत के बाद तालियों की गड़गड़ाहट और मेरा गीत उन तालियों में उड़ जाता ।

कभी एक मीठी-सी कामना उठती—कोई उस विपुल जन-समुदाय में ऐसा भी होता जिसकी आँखें मेरा गीत सुनकर भर आतीं, जो मेरा हाथ अपने हाथों में लेकर वैसे ही देखता जैसे.... याद आते ही मन विरस-सा हो उठता... धृष्ट दूधवाला ! और

कामना मिट जाती ।

चारों ओर निराशा की अंधियारी-सी फैल जाती और मैं घंटों शून्य दृष्टि से सब कुछ देखती हुई भी कुछ न देख पाती ।

दोपहर को पार्ना थम-सा गया था किन्तु साँभ होते ही फिर रिमक्ति प्रारम्भ हो गयी । उस दिन प्रायः देश के चुने हुए कवियों को आमंत्रित किया गया था ।

सर्वप्रथम मेरी पुकार हुई । मैं मंच पर जा बैठी । सोचकर आई थी कि निराला का 'वीणा वादिन !' गीत गाऊँगी किन्तु पता नहीं क्या हुआ कि मैं गा उठी वही गीत जो उस दिन घर की टी-पार्टी में गाया था ।

उस गीत के साथ याद आया वह दूधवाला भइया जिसे मैंने 'रेकेल' कहकर घर से बाहर चले जाने के लिए कहा था ।

मुझे लगा जैसे उस निरपराध भइया को गाली देकर बाहर निकालने की आत्मग्लानि और अनुताप से मेरा रोम-रोम भर उठा है । मेरी आँखें भर आईं । जैसे-तैसे उस गीत को पूरा कर लेना चाहती थी । न जाने क्यों लोग ताली पीटे जा रहे थे और मैं गाये जा रही थी—

जो तुम आजाते एक बार !

कितनी करुणा कितने संदेश

पथ में बिछ जाते बन पराग;

गाता प्राणों का तार-तार

अनुराग-भरा उन्माद—राग ;

आँसू लेते वे पद पखार । जो...

गाते-गाते मेरी उड़ती दृष्टि खोज रही थी वैसी मुग्ध आँखों को ! उस तन्मयता को !! जैसी उस दिन देखी थी किन्तु वे होंगी ऐसी आँखें जिनमें होगा—

शील ! शिवा !! संस्कार !!

मेरा गीत समाप्त हुआ। तालियों की गड़गड़ाहट में गीत उड़ गया और मैं अपने ही में खो गयी, फिर लगा जैसे मैं पुनः संसार में लौट आयी हूँ।

कोई कवि महाराज अपनी कविता का पाठ कर रहे थे। उनकी कविता में न भाव थे न प्रवाह किन्तु वे जिस प्रकार उछल-कूद कर गा रहे थे उसे देख-देख कर सबका मारे हँसी के बुरा हाल था।

जब उन कवि महाराज का कविता-पाठ समाप्त हुआ तब जाकर प्राणों में प्राण आये तभी सम्मेलन के अध्यक्ष ने पुकारा—सुधीबाबू!

उस सम्बोधन के साथ ही एक प्रौढ़ व्यक्ति मंच पर आ बैठा। मैंने देखा उसकी गर्दन और कान के पास बाल खिचड़ी हो उठे थे।

उसका वह खादी का कुर्ता स्थान-स्थान से फट गया था। कई जगह वह मैला खादी का कुर्ता उसके शरीर से चिपक-सा गया था। उससे कोई भी सहज ही में समझ सकता था कि वे कवि महाराज भीगते-भीगते ही सम्मेलन में पधारे हैं।

मन-ही-मन सोचने लगी—कैसा है यह मानव? क्यों आया होगा यह भीगते-भीगते इस सम्मेलन में? कुछ सुनने या सुनाने? सुनाने ही शायद! तो कौनसा ऐसा सन्देश होगा इसके पास जिसे बिना सुनाये इसे चैन नहीं आया? बीसों जगह से पैबन्द लगा कुर्ता! वह भी भीगा हुआ! और आये हैं संसार को अपना संदेश सुनाने!

शायद गरीब के पास नाई को देने के लिए पैसे भी नहीं हैं, नहीं तो गाल और ओठों पर दाढ़ी-मूँछ का श्याम-बन क्यों लहलहाता? तभी उनके वे ओंठ खुले।

पहिली पंक्ति सुनते ही सभामंडप में सन्नाटा-सा छा गया। वह कविता तो मुझे याद नहीं, हाँ, उस कविता का भाव मुझे आज

भी याद है। संक्षेप में यही था कि—

“मैं भग्न पोन का वह तख्ता हूँ जो युग-युगों से लहरों के थपेड़े खाता बहा आ रहा है, किन्तु किनारा नहीं पाता। नहीं जानता कभी मिलेगा भी या नहीं ! मेरा शरीर जीर्ण हो चुका है। नहीं जानता कब इस असीम अतल में समा जाऊँ ?

“मैं वह बनैला कुसुम हूँ, जिसमें न रूह है न गंध, जिसकी ओर कभी किसी ने एक बार निहारा तक नहीं। पता नहीं कब हवा का भोंका तोड़कर मुझे फेंक देगा ? मेरी पंखुड़ियाँ बिखर जायेंगी।

“जिस मिट्टी ने एक दिन मेरा सृजन किया था उसी में अनजाने अपना आत्मसात् कर लूँगा, समझ नहीं पाता मेरे इस सृजन और विध्वंस के पीछे नियति-नटी का कौनसा उद्देश्य रहा होगा ?

“मैं वह समाधि हूँ जिस पर आज तक किसी ने आकर दीप नहीं जलाया। मैं वह पाषाण प्रतिमा हूँ जिस पर कभी किसी ने एक भी फूल नहीं चढ़ाया ! फिर क्यों हूँ मैं ? क्यों ? क्यों ?

“मैं वह पत्नी हूँ जो एक दिन चन्द्रमा की ओर न उड़कर उड़ा था उस अंशुमाली की ओर। और आज उसकी प्रखरता से झुलस कर धरती पर कराह रहा है, जिसके डैने टूट गये हैं, पंख बिखर गये हैं जो न प्राण बिसार पाता है न जी पाता है। जो पानी की एक बूँद पा जाने के लिए चञ्चु खोले सिसक रहा है।”

कविता-पाठ करते समय सुधीबाबू की आँखें बार-बार भर आती थीं। लगता था जैसे हृदय में भरी करुणा आँखों की राह फूटकर बह उठेगी। उनके स्वर में एक ऐसी पुकार थी, ऐसा दर्द था जिसे सुनकर जी रोने-रोने को हो उठता था।

तभी तालियों की गड़गड़ाहट में उनका वह कविता-पाठ समाप्त हुआ।

उस विपुल जन-समुदाय में कई ओर से आवाजें आयी—
“एक और ! एक और !!”

न जाने क्यों वे कवि महाराज एक और सुनाने के लिए वहाँ रुके नहीं । एक लम्बी उस-सी छोड़ने उठने लगे तभी मुझे लगा जैसे ये वही आँखें थीं जिन्होंने कुछ मास पूर्व मेरे ही घर में गीत गाते समय मुझे देखा था ।

सोचने लगी—हाँ, वही है यह दूधवाला ! फिर कवि कैसे ? दूध वाला ! और कवि ? कैसे ? हे भगवान ।

अध्यक्ष के संचिप्त भाषण के बाद सम्मेलन समाप्त हो गया । कवि मंडली बिखर गयी और जन-समुदाय तितर-बितर हो गया । मैं गुम-सुम-सी वहीं बठी रह गयी । मैं देख रही थी उस दाढ़ी मूँछ-धारी कवि को जिसकी आँखें उस दूधवाले की आँखों से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थीं ।

नरीमेन हॉल के ऊँचे द्वार से वे कवि महाराज सिर झुकाये बाहर जा रहे थे, तभी मुझे जाने क्या सूझा मैं भी उसी ओर मन्त्र-मुग्ध-सी बढ़ने लगी ।

मैं अपने साथ ड्राइवर नहीं लायी थी । सम्मेलन की समाप्ति पर चौपाटी से होकर गेट ऑफ इण्डिया तक घूमने की बात सोचकर घर से निकली थी । कवि महाराज भीड़ में खो गये और मैं अपनी गाड़ी सड़क की ओर घुमाने लगी ।

पानी की रिमझिम बढ़ गयी थी । बादल गड़गड़ा रहे थे । बिजली की चौंध में सड़क पर भरा पानी लगता था जैसे किसी ने दूध बिखेर दिया है । तभी मेरी गाड़ी के सामने से वही कवि महाराज सड़क पार कर एक ओर से दूसरी ओर निकल गये । नहीं जानती किस भाव से प्रेरित होकर मैंने गाड़ी रोक दी और पुकारा—‘सुधीबाबू ! सुधीबाबू !’ और वे बढ़कर गाड़ी के पास आ खड़े हुए !

धीरे से बोले—

“आपने मुझे पुकारा था ?”

“जी !”

“कहिये ?”

“कहाँ है आपका घर ? चलिए मैं आपको घर तक छोड़ आती हूँ ।”

“धन्यवाद ! मैं चला जाऊँगा ।”

“आइये न, बैठ जाइये !”

“क्षमा करें ! मैं पैदल ही चला जाऊँगा ।”

उसके इस प्रकार के आग्रह को देखकर मैं सोचने लगी—
ये कवि भी होते पूरे भक्की हैं । कपड़े भीग गये हैं ! कहती हूँ—
गाड़ी में बैठ जाइये पर हठ किये जा रहे हैं । क्यों कर रहे हैं
ऐसी हठ ?

मैं पूछ बैठी—“गाड़ी में बैठकर घर तक सुविधा-पूर्वक
पहुँच जाने में आपको इतनी आपत्ति क्यों है ?”

सुनकर पहिले मुसकाये, फिर बोले—“जीवन की ये सुविधायें
आप लोग देते हैं बहुत बड़ा मूल्य लेकर । ऐसा मूल्य जिसे मुझ
जैसे प्राणी चुका नहीं पाते ! इसीलिए आप लोगों से ऐसी
सुविधायें प्राप्त नहीं कर पाता ! यह दुराग्रह नहीं है ! यह तो
मात्र अपने सिद्धान्त की बात है ।”

“अच्छा ! रखिये अपना सिद्धान्त अपने पास !” कहकर
मुँहलाहट में मैंने गाड़ी स्टार्ट की और हवा के झोंके की भाँति
‘सर’ करती गाड़ी आगे बढ़ा दी ।

पानी बरस रहा था । बादल गड़गड़ा रहे थे । मैं घर न जाकर
जा पहुँची समुद्र के किनारे । उस असीम सागर के किनारे सड़क
पर गाड़ी खड़ी की । चारों ओर घना अन्धकार था और समुद्र
दहाड़ रहा था ।

कभी-कभी समुद्र की बड़ी लहराती लहर किनारे के शिलाखण्डों से टकराती बौखलाती-सी गाड़ी पर आकर छहरा जातो थी। कभी बिजली चौंधती ! उस चौंध में लगता था जैसे समुद्र अपनी सीमाओं को तोड़ डालने के लिए छटपटा रहा है पर तोड़ नहीं पाता।

सोचने लगी—जीवन में जाने कितनी बार मैं इसी सागर के किनारे आकर बैठी हूँ किन्तु कभी समुद्र की दहाड़ में भरी व्यथा न समझ पायी थी। तब लगता था लहरों में उठता शब्द मात्र ! और आज जैसे लहरों में भरी वह अपरिसीम वेदना, गहरी व्यथा मेरी है ! मेरी, नितान्त अपनी !

गाड़ी में बैठी सागर की उन दहाड़ों को सुनती-सुनती सोचने लगी—कैसा है वह भक्की कवि ! कौनसा मूल्य माँगा था मैंने उससे ? कौनसा था वह सिद्धान्त जिसमें बँधकर वह सुविधा प्राप्त नहीं कर पाता ?

ये लोग क्या समझने हैं अपने को ? तभी तो हैं ऐसी समाधि—जिस पर कोई दीपक नहीं जलाता। तो रहो सदा समाधि—वर्षा में भीगती और ग्रीष्म में तपती ! सहयोग की अस्वीकृति में कौन सा सुख पाते हैं ये ? दरिद्री ! भक्की मूर्ख !!

फिर एक विचार आया—मैंने उस अपरिचित को गाड़ी में बिठाकर उसके घर तक पहुँचाने का आग्रह ही क्यों किया ? अस्वीकृति, उपेक्षा का यह अपमान क्यों सहा ? कवि होकर दूध क्यों बेचता था ?

कैसा है यह समाज ? उसकी कविता सुनकर आनन्द-विभोर हो उठता है। कान पीते हैं कविता का रस और आँखें यह नहीं देख पाती कि उस रस को बहाने वाले, उस रस निष्पत्ति के स्रोत उस कवि के कुर्त्त से पानी टपक रहा है और वह जाड़े में काँप रहा है ! सोचते-सोचते मन उस कवि के प्रति स्नेह-श्रद्धा से

भर उठा।

फिर ध्यान आया—तो आग्रहपूर्वक गाड़ी में बिठा क्यों नहीं लिया ? थोड़ा आग्रह और करती तो मान तो जाता। फिर क्यों मैं बौखला उठी ? क्यों बेचता था वह दूध ? कैसे लिख पाता है ऐसो कविता ? क्या काम करता है ? कहाँ रहता होगा ? उस कवि को भूल जाने के लिए जितना ही मैं प्रयत्न करती उतना ही उसको लेकर उलझ जाती।

सोचते-सोचते एक तन्द्रा-सी छागयी। लगा जैसे अचेत-सी हुई जा रही हूँ। एक कंपकंपी आयी और मैं हड़बड़ाती-सी बैठ गयी। पानी बरस रहा था। आकाश में बार-बार बिजली कड़क उठती थी। मैंने गाड़ी स्टार्ट की और गीली, पानी भरी सड़कों पर छरछराती घर आगयी।

बिना खाये-पिये अपने कमरे में जाकर लेट गयी। मेरे न खाने पर घर में जैसा तहलका मच सकता है सो मैं बिलकुल ही भूल गयी थी। पहिले पिता जी आये, माँ आयीं, नौकर-चाकर सभी कहते-कहते थक गये किन्तु एक कौर भी कंठ से नीचे न उतार सकी।

आधी रात तक पानी थम गया था। मैंने उठकर खिड़की खोल दी। उस काले आकाश में पूर्ण चन्द्र छिटक आया था। कहीं-कहीं सफेद बरसाती बदलियाँ उड़ी जारही थीं। मैं सोचने लगी—ये बरसकर हलकी हो गयीं। प्रकृति शान्त हो गयी सब कुछ शान्त नीरव है किन्तु मैं क्या करूँ ? कैसे समझाऊँ इस मन को ? कुछ बात भी हो। कौन है वह मेरा ? मूर्ख कहीं का !

सिद्धान्त की बातें बघारता है भग्नपोत के तख्ते की भाँति रुल-डुल रहा है। बनैला, कुसुम। समाधि—जिस पर कभी दीपक नहीं जला। वे सजल नेत्र ! आर्द्र कंठ !!

कविता-पाठ के समय कैसी करुण रेखाएँ उसके समस्त

मुख-मण्डल पर खिच उठी थीं। कैसे भुला पाऊँ उस निरीह चेहरे को.....

पता नहीं कब उस सिद्धान्त वाली बात को लेकर मन उसके प्रति घृणा से भर उठा, और कब मेरी आँखें झपक गयीं ?

उन दिनों कभी मन करता था कि घर से दूर दूर बहुत दूर कहीं भाग जाऊँ। जहाँ अपना कहने लायक कोई भी न हो। फिर निर्बाध गति से पत्नी की भाँति उड़ती रहूँ— उड़ती रहूँ।

उस दिन पैदल ही घर से निकल पड़ी। पहिले हैंगिंग गार्डन में निरुद्देश्य घूमती रही फिर उस पहाड़ी से उतरकर चौपाटी की ओर निकल गयी। कुछ बच्चे समुद्र की गीली रेती से घर बनाते थे फिर उसे मिटाकर खिलखिला पड़ते थे।

न जाने कौन ऐसा भाव जागा कि मैं भी उन बालकों के बीच बैठकर गीली रेती को खोद खोद घर बनाने लगी। घर बनाने में ऐसी खोगयी कि समय का ध्यान ही न रहा। चारों ओर रात की अँधियारी छा गयी तब हड़बड़ाती-सी मैं उठकर खड़ी हो गयी। फिर झुककर तर्जनी से उस घर के सामने लिखा—
MY SWEET HOME

लिखकर अपने आप ही मैं लजा-सी गयी। झुककर उस 'my sweet home' को मिटाकर मैं घर की ओर लौटने लगी।

चलते-चलते रास्ते में एक सस्ता होटल देखा। उस होटल में प्रायः मिल के मजदूर, रिक्शा वाले या कुलियों का ही जमघट था।

जी चाहा कि उस वातावरण में कुछ देर बैठूँ। मैं जाकर एक कुर्सी पर बैठ गयी। बैरा मेरे असाधारण स्वच्छ कपड़ों को देखकर दौड़ा आया। मैं सिंगल कप चाय का आर्डर देकर चुप बैठ गयी। वह सारा वातावरण कुछ विचित्र और अद्भुत-सा लग रहा था।

सामने की मेज पर एक मजदूर अपनी नबोढ़ा के साथ बैठा

था। जिसे शायद पहिली ही बार उस होटल में लाया था। उसकी आँखों में काजल और गले में सफेद फूलों की माला थी। आँखें सुर्ख थीं जैसे पीकर आया है। नवोढ़ा यू० पी० की ग्रामीण-सी लग रही थी।

मजदूर युवक आर्द्र कण्ठ से बोला—“कटोरी ! पहिले चाय पियो।”

“बहुत गर्म है।”

“अए हए ! फिर ठण्डी चाय में क्या मजा रहेगा ?” कहकर वह मजदूर युवक जिस मार्मिक दृष्टि से उसे देखने लगा सो मुझे बहुत अच्छा लगा। उस नवबधू ने लजाती आँखों से पति की ओर देखा।

उसके पतले सुर्ख होंठ और अधिक सुर्ख हो गये। उस शराबी पति की ओर देखते-देखते ही उसने वह चाय का प्याला उठाया।

मैं चाय पी रही थी। बीच-बीच में उन दोनों को भी देखती जाती थी। तब तक होटल के एक कोने की ओर दो मजदूरों में किसी बात पर कहा-सुनी होगयी। शायद दोनों शराब पिये हुए थे।

मैंने उस ओर देखा तब तक उस नवोढ़ा के हाथ से प्याला छूटकर मेज पर जा पड़ा और वह गर्म चाय छलककर मेरी अँगुलियों पर आ पड़ी।

चाय गर्म थी सो दर्द के मारे मेरी चीख निकल गयी और साथ ही—“जानवर ! जंगली रेस्केल !” भी।

सुनकर वह शराबी पति लड़खड़ाता उठा और बोला—“अरी ओ ! जीभ खींच लूँगा जो गाली निकाली। बड़ी आई है मेम साहब बनकर... कहीं... की...” कहते-कहते वह मेरी ओर बढ़ा।

सुनकर लगा जैसे उस होटल की सारी दीवालें घूम उठी हैं।

मेरी आँखों के सामने अँधेरा-सा छाने लगा। तभी एक कड़कती-सी आवाज सुनी—

“माधो ! पीछे हट !!”

वह शराबी मजदूर भीगी बिल्ली की भाँति पीछे हट गया। हटते-हटते बोला—“सुधी दादा ! गाली देती है।”

“माधो !”

लगा जैसे सरकस के कटघरे में शेर को पीछे हटने के लिए कहा जा रहा है।

सुधीबाबू मेरे अति निकट आकर खड़े होगये। जेब से रुमाल निकालकर मेरे हाथों पर फैली चाय पोंछते-पोंछते बोले—
“जिन्हें आप जानवर, जंगली, रेस्कैल, समझती हैं, उन्हीं में आकर चाय क्यों पीती हैं ? अपनी उच्चता के इस भाव को प्रदर्शित करने का इतना लोभ क्यों है आपको ?”

“सुधीबाबू !”

“जी !”

“कवि इतना निष्ठुर भी हो सकता है ?

सुधीबाबू ने उस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वे अँगुलियों पर रुमाल बाँधते-बाँधते कहे जा रहे थे—“कोई स्थान तो ऐसा छोड़ देना चाहिए जहाँ ये गरीब भी बराबरी के स्तर पर बैठ सकें।”

स्वर में तिकता भरकर मैंने कहा—“जी ! धन्यवाद !!”

कहती-कहती मैं वहाँ से चली आई। और कानों ने सुना—
अट्टहास ! हँसी के कहकहे !! मैं क्रोध और अपमान की आग में जलती बड़बड़ाने लगी—“जंगली ! जानवर !!”

उस होटलवाली घटना के बाद दस एक दिन तक मैं घर से बाहर नहीं निकली। घर में पड़े-पड़े जब मन ऊब गया तो एक दिन तीसरे पहर निरुद्देश्य गाड़ी लेकर बाहर निकली। मन ठीक नहीं था सो साथ में ड्राइवर को भी ले लिया था।

पिछली सीट पर थकी-सी पड़ी खिड़कियों से सड़क पर आने-जाने वाले नर-नारियों को देखती जा रही थी।

मन-ही-मन सोच रही थी—सड़क पर चलने वाले इन सब के जीवन में कुछ उद्देश्य हैं। किसी-न-किसी प्रकार के उद्देश्य की पूर्ति के लिए भाग-दौड़ करते जीवन बिताये जा रहे हैं किन्तु मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ यह व्यर्थता का भार लिये ?

सोचते-सोचते मुझे अपने ही आप हँसी आगयी विचार आया—यदि अपने मन की यही बात मैं अपनी किसी सहेली से कहूँ तो वह अवश्य मुझे 'पगली' की संज्ञा दे देगी। कहेगी—सिनेमा, पिकनिक, भ्रमण जाने कितनी ऐसी चीजें हैं इस संसार में जिनमें सहज ही मन रमा सकती है पर मैं इस मन को क्या करूँ ? मैं चाहती हूँ जीवन में वैचित्र्य, अलौकिकता।

तभी मेरी दृष्टि जा पड़ी एक ताँगे पर। जो कुछ मैंने देखा उस पर किसी प्रकार भी विश्वास न कर सकी। किन्तु जो देख रही थी उस पर विश्वास करना ही पड़ा। मैंने ड्राइवर को गाड़ी रोक देने के लिए कहा। ड्राइवर ने सड़क के एक किनारे की ओर गाड़ी खड़ी कर दी।

सुधीबाबू घोड़े की जगह ताँगे की दोनों बल्लियों को कन्धों

पर रक्खे उसे खींचे जा रहे थे। अचरज के मारे मेरी साँस रुकने लगी। उस ताँगे के पीछे एक बूढ़ा मुसलमान काँपते पैरों से ताँगे को ठेलता जा रहा था।

मैं खड़ी-खड़ी सोचने लगी—हे राम ! कैसा है यह बहुरुपिया मानव ? कभी दूध वाला बन घर-घर जाकर दूध बेचता है, कभी कवि बनकर जनसमूह पर छा जाता है। उन जंगली जानवरों पर कैसा प्रभाव है उसका—मजदूर नेता ! और आज बिना अपनी मान-मर्यादा का विचार किये घोड़े के स्थान पर ताँगे को खींचे जा रहा है।

बहुत दिनों से सोच रही थी—इस रहस्यमय मानव के सम्बन्ध में कुछ जान लूँ—कहाँ रहता है ? क्या करता है ? कभी-कभी लगता जैसे वह मेरे आदर्शों की सम्पूर्ति है। और कभी मन उसके प्रति घृणा से भर उठता था।

उस दिन हाथ में गर्म चाय से छाले पड़ गये थे। शिष्ट मानव की भाँति उसे सहानुभूति के दो शब्द कहने थे और कर रहा था—विष-वमन ! जंगली बीस्ट !

तभी देखा सुधीबाबू थककर खड़े हो गये। कुर्ते के एक छोर से माथे का पसीना पोंछकर फिर आगे बढ़ने लगे। सुधीबाबू को ताँगा खींचते देखकर मुझे याद आई उनकी वह कविता !—
बनैला कुसुम !! भग्नपोत का रुलता-डुलता तख्ता ! लहरों के थपेड़े !

मेरी आँखें छलछला आयीं जैसे-तैसे मैं उन आँसुओं को आँखों में ही पी गयी। ड्राइवर को पीछे बैठने के लिए कहकर मैंने गाड़ी स्टार्ट की।

मैंने गाड़ी ठीक ताँगे के पास जाकर खड़ी करदी और बोली --“सुधीबाबू !”

“ओह आप ! कहिए ?”

“ताँग को गाड़ी से बँधवा देती हूँ । जहाँ कहेंगे इसे पहुँचा सकूँगी । आपको कोई आपत्ति तो न होगी ?”

“होगी !”

“क्यों ?”

“क्योंकि मैं उतना उदार नहीं हूँ जितना आप मान बैठे हैं ।”

“समझी नहीं !”

“समझ भी नहीं सकती !”

“क्यों ?”

“इस धूप में ताँगा खींचने में भी एक प्रकार का सुख है । सो उस सुख को सहज ही छोड़ देने की उदारता मुझ में नहीं है ।” कहकर वे हँस पड़े ।

हँसते समय पसीना बहता-बहता नासिकाग्र से टपककर ओठों पर जा पड़ा । कुर्ते के छोर से पसीना पोंछते-पोंछते बोले—
“दूसरों पर कृपा जताने का अवसर आप चूकती नहीं । यह बात आपके खून में है । अच्छा चलता हूँ ।” कहकर वे ताँगे को फिर खींचने लगे ।

सुधीबाबू का उत्तर सुनकर मेरा रोम-रोम जलने लगा । एक बार जी में आया कि मोटर गाड़ी की एक टक्कर से उस ताँगे को चकनाचूर कर दूँ, किन्तु पता नहीं क्यों एक क्षण में ही मेरा सारा क्रोध-घृणा मिट गयी ।

गाड़ी में बैठी-बैठी उस लड़खड़ाते बूढ़े मुसलमान और ताँगा खींचते सुधीबाबू को छलछलानी आँखों से तब तक देखती रही जब तक वह ताँगा आँखों से ओझल नहीं हो गया ।

x

x

x

पिछली रात बहुत देर तक नींद नहीं आयी थी सो जब जागी तो चारों ओर धूप फैल गई थी । मैं तकिया छाती से दबाये औंधी पड़ी थी ।

पड़ी पड़ी सोचने लगी—क्या हो गया है मेरे मन को ? मैं उस भक्की बहुरुपिये को क्यों नहीं भुला पाती ? मैंने उसकी मदद करनी चाही और वह समझता है कृपा जमाने का दम्भ ! मूर्ख अभिमानी !!

तभी किसी का हल्का-सा हाथ मेरी पीठ पर पड़ा और साथ ही—“हल्लो ! लिली ! डार्लिंग !”

“ऊषा ! सुबह ही सुबह किधर से ?”

“यह सुबह है ! डीयर नौ बज चुका है !”

“नौ !”

मुझे शंक्ति आँखों से देखती-देखती वह पास ही बैठ गयी । फिर मेरे बालों में अँगुलिया उलझाती-सी बोली—

“कहीं आँखों का एक्सीडेंट हुआ है ? इतनी देर तक क्यों पड़ी रहती है बिस्तर पर ? रात का नींद नहीं आती ?”

“सच ऊषा ! नींद ही नहीं आती !”

“तब तो कई स्टेज पार कर चुकी है ! मुझे नहीं बताया ।”

“क्या नहीं बताया तुम्हें ?”

“प्रेम के कई स्टेज होते हैं लिली ! जब रात रात भर नींद नहीं आये और नौ बजे तक कोई बिस्तर पर पड़ा-पड़ा उसे ‘सुबह ही सुबह’ माने तब मरीज की हालत खतरनाक ही माननी चाहिए ।”

“हिश ! वैसी कोई बात नहीं है ।”

“इसी तरह पहिले-पहिले सब मना करते हैं ।”

“कोई बात भी हो !”

“हाँ, सब मरीज यही कहते हैं !”

सुनकर मैं खीझ उठी । उसके कंधों पर लटकती दोनों चोटियों को अपनी ओर खींचकर मैंने कहा—“ऊषा ! ऐसा मैं कर सकती हूँ ?”

“इस उम्र में सभी लड़कियाँ कहीं-न-कहीं इस प्रकार का आविष्कार कर ही लिया करती हैं ! तू क्या अनौखी लड़की है ?”

“हाँ ऊषा, मैं अनौखी लड़की ही बनना चाहती हूँ। मैं जानती हूँ मेरी उम्र में लड़कियाँ प्रेम करती हैं; या प्रेम करने का अभिनय करती हैं ! सब अपने प्रेम को पवित्र और अलौकिक बनाती हैं। किसी के प्रणय का परिणाम होता है विवाह ! बच्चे ! और सब कुछ समाप्त !

किसी के प्रणय का परिणाम होता है शादी से पूर्व ही पेट में किसी जीव का आ जाना। फिर बदनामी ! और कभी आत्म-हत्या प्रणय का अन्त होना है। मैं वह सब कुछ नहीं चाहती !”

“फिर तू क्या चाहती है ?”

सुनकर मैं उठी और उसकी दोनों हथेलियाँ अपने हाथों में लेकर बोली—“ऊषा ! तू बचपन की मेरी सहेली है। तू जानती है खेल-कूद, मौज-बहार से मुझे सदा ही एक प्रकार की घृणा-सी रही है।”

“हाँ, सो तो मैं जानती हूँ, पर आखिर तू चाहती क्या है ?”

“क्या चाहती हूँ यह तो मैं स्वयं नहीं जानती। हाँ, इतना जानती हूँ कि अन्दर-ही-अन्दर एक ऐसा शून्यता का भाव है जो मुझे खाये जा रहा है। मैं चाहती हूँ उसकी सम्पूर्ति, पर कैसे हो वह सम्पूर्ति ? अपने उस प्राण्य को पा लेने के लिए दिन-रात छटपटाती-सी रहती हूँ।”

“लक्षण अच्छे नहीं हैं !”

“क्या मतलब ?”

“मतलब यह कि तू जिस ओर जा रही है वह मार्ग सचमुच ही अति भयाव्रह है। तू उस ओर न जा लिली ! उस असाधारणता की ओर जाने वाले तिल तिल कर मिट जाते हैं। स्वयं मिटकर, आने वाली पीढ़ी के लिए कुछ जीवन-सूत्र छोड़ जाते

हैं जो जीवन-पथ पर सजग होकर चलने वालों के लिए होते हैं मात्र पाथेय ! और बस !”

“हाँ ऊषा ! ठीक यही बात तो मैं चाहती हूँ !”

“लिली ! मैं भी बहुत दिनों तक इसी चिन्तन की आग में जलती रही हूँ । मेरे पड़ोस ही में एक बंगाली बाबू रहते थे । उनकी बातों से मैं इतनी प्रभावित हुई कि पाठ्य-पुस्तकों को छोड़कर मैं दिन-रात उनके द्वारा दिये गये उसी क्रान्तिकारी प्रोग्रेसिव लिट्रेचर को पढ़ने लगी ।

एक दिन ‘नारी स्वातंत्र्य’ पर पिता जी से बहस छिड़ गयी । पिताजी के सारे तर्क मैंने छिन्न-भिन्न कर डाले ।”

“फिर ऊषा ?”

“समझदार पिता जी को मेरे उस अर्जित ज्ञान के मूल स्रोत को खोज निकालने में देर नहीं लगी और उन बंगाली बाबू के लिए मेरी कोठी का द्वार सदा के लिए बन्द हो गया ।”

“क्या नाम था उनका ?”

“सुधीबाबू ।”

“सुधीबाबू !” लगा जैसे कहीं किसी ठौर मुझे बिजली का तार छू गया है ।

“लिली !”

“.....!”

“चुप क्यों हो गई ?”

“.....!”

“तू भी जानती है सुधीबाबू को ?”

“हाँ जानती हूँ !”

“तुम्हें भी उन्होंने कुछ लिट्रेचर पढ़ने को दिया था ?”

“नहीं ।”

“फिर.....”

“ऊषा ! एक दिन मैंने उन्हें इस घर से ‘जंगली रेस्कल’ कहकर निकाल दिया था ।

“क्या कह रही है तू ?”

“सच ऊषा !”

मुनकर लगा जैसे ऊषा का वह गुलाबी चेहरा पीला पड़ गया है । कुछ देर चुप रहकर बोली—

“ऐसा करने का तुम्हें साहस कैसे हुआ ? कुछ कहा नहीं उन्होंने ? बात क्या थी ?”

कहकर ऊषा चुप निर्जीव की भाँति बैठी रह गयी ।

मैंने उसके कंधे हिलाकर कहा—“ऊषा ! उस रहस्यमय व्यक्ति के बारे में मैं सब कुछ जान लेना चाहती हूँ । कौन हैं वह ? क्या करते हैं ? तू कुछ जानती है उनके बारे में ?”

“सब कुछ तो मैं नहीं जानती हूँ, थोड़ा-बहुत अवश्य जानती हूँ । लेकिन लिली, यह तूने क्या किया ? सचमुच ही सुधीबाबू इसी देश की नहीं संसार की अमूल्य निधि हैं ।

उनके उस शरीर में बैठी उस महान् आत्मा के सम्बन्ध में जब सोचती हूँ तो हृदय श्रद्धा से झुक झुक जाता है कहते-कहते ऊषा की आँखें छलछला आयीं ।

कुछ देर चुप रहकर बोली—“उस दिन कोठी में कभी पैर न रखने के लिए जब पिता जी ने उन से कहा तब एक प्रकार की व्यथा-भरी मुस्कान उनके ओठों पर बिखर गयी थी ।”

“कुछ कहा नहीं ?”

“कहा था ।”

“क्या कहा था ?”

“लिली ! जो कुछ उन्होंने कहा था उसमें ऐसा व्यङ्ग्य, ऐसी व्यथा थी जो दिन-रात मुझे खाये जाती है । बोले—

“आपकी यह आज्ञा मेरे लिए नई नहीं है । इसका मुझे

अभ्यास है।” कहकर हँसते-हँसते वे चले गये। तब से फिर मैंने उन्हें कभी नहीं देखा।”

“ऊपा ! उनके बारे में तू क्या जानती है ? कितने दिनों से उनके बारे में कुछ जान लेने के लिए मैं छटपटाती आ रही हूँ। कुछ बतायेगी ?”

“विगत जीवन में उन्होंने क्या-क्या किया है सो तो मैं नहीं जानती हूँ पर इतना जानती हूँ कि मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता के सिलसिले में समस्त यूरोप के वे कई चक्कर काट चुके हैं। ‘क्रान्ति’ और ‘दर्शन’ उनके अपने विषय हैं।

“इन विषयों पर उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे हैं। अंग्रेजी सरकार ने उनके लिए ‘फाँसी का दण्ड’ निश्चित किया था किन्तु जेल की ऊँची दीवारों उनके लिए बहुत छोटी सिद्ध हुई। उन्हें लाँघ कर वे विदेश चले गये। सुभाष बाबू ने शोनन (सिंगापुर) में जो अस्थायी स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार बनायी थी उसमें उनका प्रमुख हाथ था। डाक्टर सनयात सन के चरणों में बैठकर उन्होंने राजनीति का पाठ पढ़ा था। संचेप में मैं यही जानती हूँ।”

ऊपा की बातें सुनते-सुनते मेरे प्राण खिंचने लगे। लगा जैसे मेरी आँखें स्वतः मुँदने-सी लगी हैं। सोचने लगी—और संसार के उस महान् क्रान्तिकारी को मैंने ‘रेस्केल’ कहकर घर से निकाल दिया।

तभी ऊपा ने कहा—“लिली ! क्रान्तिकारी संसार में बहुत हुए और आज भी हैं। इन क्रान्तिकारियों की निष्ठुरता की कहानियाँ तूने भी बहुत पढ़ी होंगी। खून और हत्या उनके लिए खेल हैं। मानव की गर्दन मरोड़ डालना उनके लिए है मात्र कौतुक ! किन्तु सुधीबाबू का हृदय तो औरतों से भी अधिक नरम है।”

“सो तूने कैसे जाना ?”

“तब वे मेरे पड़ोस ही में रहते थे। मेरी कोठी के पास दाईं

ओर जो छोटी-सी गली है न, उसी में नीचे की मंजिल में एक कोठरी किराये पर ले रखी थी।

“उसी कोठरी के पास उत्तर देश का एक दूध वाला भइया रहता था। एक दिन उसका एक टैक्सी से एक्सीडेंट हो गया। समस्या थी कि नियत घरों में उसका दूध कौन पहुँचाये ?

“लिली सुनकर तुझे आश्चर्य होगा कि सिंगापुर में बनी उस अस्थायी स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार के अधिकारी, संसार-प्रसिद्ध उस क्रान्तिकारी ने उस भइया की साइकिल उठाई और फिर घर-घर जाकर कई दिनों तक दूध की सप्लाई की थी।”

सुनकर मैं ऊषा के कंधों से चिपटकर हिचक-हिचककर रोने लगी। मुझे लगा जैसे अन्दर-ही-अन्दर कहीं आग लग गई है। लगा जैसे आग लगे धुआँ-भरे घर में मैं पड़ी हूँ। मेरा दम घुटने लगा। जब जी शान्त हुआ तब ऊषा ने मेरा सिर थपथपा कर पूछा—

“ऐसे, रो क्यों पड़ी लिली ?”

और तब मैंने वह सारी घटना उसे सुना दी जिस प्रकार सुधीबाबू को ‘रेस्केल’ कहकर मैंने घर से निकाला था। फिर कवि सम्मेलन, मजदूरों का होटल, ताँगे वाली बात सब कुछ सुना दिया। कहकर मैं चुप हो गई।

हम दोनों चुप स्तब्ध-से बैठे थे तभी मेरी माँ उस ओर आयी। मेरे गाल थपथपाकर बोली—“लिली ! कैसी तबीयत है। तेरी तबीयत यहाँ न लगती हो तो कहीं बाहर जाकर घूम फिर आ। कितने दिनों से मथुरा, वृन्दावन, काशी, प्रयाग देखने को जी कर रहा है। तू मेरे साथ चले तो आज पिताजी से कह देखूँ ?”

“नहीं माँ ! मैं नहीं जाऊँगी कहीं।”

“तो तू यूँ उदास क्यों रहती है ? ऊषा बेटी ! तू ही समझ

न इसे । सब लड़कियाँ खेल-तमाशो देखने जाती हैं । ताश, टेनिस खेलती हैं और एक यह है कि दिन भर घर में पड़ी रहती है । किसी दिन बाहर गयी भी तो ऐसे लौटती है जैसे ज़रा-सी बात पर रो पड़ेगी । जाने क्या हुआ है इसे ?”

“माँ अब चुप भी रहोगी ?”

“चुप तो मैं रहती ही हूँ लेकिन मुझे अच्छा नहीं लगता यह सब । यही तो उम्र है हँसने-खेलने की और तू पड़ी रहती है गुम-सुम ।”

तभी नीचे से आवाज़ आयी—“लिली की माँ ! तार आया है । कल सुबह अजीत आ रहा है ।”

मैं बीच ही में बोल पड़ी—“ऊषा ! विलायत से भइया आ रहे हैं ।”

कहते-कहते मैं नीचे पिताजी के पास दौड़ गयी ।

भइया के आने की सूचना पाकर समुद्र की लहर की भाँति आह्लाद तूफान आया और मिट गया, शेष रह गया मात्र अवसाद जिसकी सृष्टि स्वयं मैंने की थी ।

मैं अपने कमरे में पड़ी-पड़ी सोचने लगी—यदि पाप-पुण्य हैं, यदि संसार में धर्म-कर्म है तो सुधीबाबू जैसे व्यक्ति को घर से अपमानित करके निकाल देने का पाप मैंने किया है । और उसी पाप की यातना में शाम तक जलती रही ।

पता नहीं क्यों जब मन अति दुखी होता था तब हैंगिंग गार्डन से सूर्यास्त देखने के लिए मन विकल हो उठता था । साँझ होने को थी सो मैं गाड़ी लेकर हैंगिंग गार्डन जा पहुँची । मैं हांफती-हांफती गार्डन की सीढ़ियाँ चढ़कर थोड़ा सुस्ताने के लिए एक बेंच पर बैठ गयी । थोड़ी दूर पड़ी एक दूसरी बेंच के कोने पर बैठे व्यक्ति की ओर देखने लगी ।

उस बेंच पर बैठे सुधीबाबू भुने हुए चने चबा रहे थे । चने चबाते-चबाते किसी व्यक्ति से बातें कर रहे थे । वह व्यक्ति घास पर बैठा एकटक सुधीबाबू की ओर निहार रहा था ।

मैंने ध्यान से देखा तो मैं पहिचान गयी । नीचे घास पर बैठा वही बूढ़ा भइया था जो मेरे घर रोज़ दूध देने आता था । उसे देखते ही मैं वहाँ से उठकर सूर्यास्त देखने चली गई पर दृष्टि मेरी सुधीबाबू की ओर ही थी । मैं चाहती थी कि सुधीबाबू से मैं उस दिन के अपमान के लिए उनकी पग-धूलि लेकर क्षमा-याचना कर लूँ ।

एक ओर सूर्यास्त हो रहा था । सूर्य कनकघट की भाँति औंधा

हिलडुल रहा था जैसे मृत्यु-यंत्रणा से बिलबिला रहा हो। दूसरी ओर सुधीबाबू अपने में डूबे-से शून्य दृष्टि से अत्यन्तस्तब्ध से सामने की ओर देख रहे थे।

यंत्र की भाँति उनके हाथ उठते थे। कुर्ते में पड़े चने के कुछ दानों को मुँह खोलकर डाल लेते थे—जबड़े हिलते थे। चने दाँतों के बीच पिसते थे और गले के नीचे उतर जाते थे।

नीचे घास पर बैठे उस द्रव वाले भइया की आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बह रही थी। उन बहते आँसुओं को अपनी पगड़ी के एक ओर से पोंछते-पोंछते वह कुछ कहे जा रहा था।

मेरा जी कर रहा था कि मैं भी सुनूँ कि वह क्या कहे जा रहा है पर उधर जाने का साहस न कर पा रही थी।

सोचती थी—पता नहीं इस प्रकार वहाँ पहुँचने पर सुधीबाबू क्या समझेंगे ?

इसी प्रकार सोचती-विचारती मैं वहीं खड़ी रही। धीरे-धीरे उस बाग में अँधेरा हो गया। इधर-उधर बैठे नर-नारी काले छाया चित्र से प्रतीत हो रहे थे।

तब धीरे-धीरे मैं सुधीबाबू की बेंच के अति निकट जाकर घास पर बैठ गयी। वहाँ से उन दोनों की बात-चीत स्पष्ट सुन पड़ रही थी।

वह बूढ़ा कह रहा था —“मेरे सिर पर हाथ रखकर मुझे माफ़ कर दो भइया ? नहीं तो इस बूढ़े की आत्मा जन्म-जन्म तक ऐसे ही तड़पती रहेगी।”

तब मैंने देखा—सुधीबाबू ने अपना हाथ उस बूढ़े के सिर पर रखकर कहा—“अब जाओ बाबा ! जो होना था सो हो गया। अब मन भारी करने से क्या होगा ? उठो ? जाओ !!”

और वह बूढ़ा धीरे-धीरे वहाँ से उठा फिर सुधीबाबू के

चरणों पर माथा टेकने लगा ।

“यह क्या कर रहे हो बाबा ? ऐसा नहीं करते हैं । मैं तो तुम से छोटा हूँ ।”

“छोटे हो तो क्या हुआ भइया ? तुम आदमी नहीं देवता हो ! अब इस कलियुग में कहाँ हैं ऐसे आदमी ? तुम्हारे जैसे आदमियों के पुण्य-प्रताप से ही तो यह धरती टिकी है । नहीं तो रसातल में न चली जाती ।” कहते-कइते वह बूढ़ा वहाँ से चला गया ।

सुधीबाबू अकेले उस बेंच पर बैठे थे । आस-पास से सभी लोग उठ-उठकर चले गये थे । कहीं-कहीं मानव का छाया-चित्र चलता-फिरता-सा दिखलाई पड़ जाता था ।

मैं साहस बटोरकर उसी बेंच के एक किनारे पर जा बैठी । थोड़ी देर चुप रही फिर साँस रोककर बोली—

“सुधीबाबू !”

“ .. ”

“सुधीबाबू !”

“जी !” जैसे चौंक पड़े हों ।

“क्या सोच रहे हैं ?”

ओह ! आप हैं ?”

“जी ! ”

“यहाँ कैसे ?”

“सोचा अँधेरे में आने पर आप किसी पर दया-कृपा दिखलान का आरोप नहीं लगा पायेंगे ।”

“सेन्स ऑफ ह्यूमर तो है आप में ! वह तो आप लोगों में आ ही जाता है ! पता नहीं कौन उस दिन सुना रहा था कि एक सेठ ने अपनी शिक्षित लड़की से कहा—‘बेटी ! तेरी शादी सोने

की ईंट से कर रहा हूँ।' वह शिक्षित लड़की तपाक से बोली—
 'अच्छा है डैडी ! उसे बेचकर यूरोप की हवा खा आऊँगी।' और यह जानकर मैं बहुत देर तक हँसता रहा कि अपने पति को बेचकर यूरोप में हवा खाने वाली उस लड़की के पिता सांस्कृतिक आधार पर खड़ी एक संस्था के सभापति हैं।"

सुनकर मैं मन-ही-मन सोचने लगी क्यों है इन्हें इस धार्मिक वर्ग के प्रति ऐसी गहरी घृणा ?

तभी वे बोले—“अच्छा तो चलता हूँ।”

“नही सुधीबाबू !”

“क्यों ?”

“मुझे कुछ कहना है।”

“कहिये ! लेकिन आज नहीं। आज मेरा मन बहुत भारी है ! फिर कभी सुनूँगा।” कहकर वे खड़े हो गये।

“सो नहीं होगा सुधीबाबू !” कहते कहते मेरा गला भर आया।

“अच्छा कहिये ?” कहकर वे वहीं बैठ गये।

“सुधीबाबू।”

“जी !”

“हम लोगों से आप इतनी घृणा क्यों करते हैं ?”

“घर से गालियाँ देकर निकालने वाले को और चाहे कोई प्यार करे पर मैं वैसा उदार नहीं हूँ देवी !”

सुनकर मारे लाज और परिताप के मैं पानी पानी हो गयी। कुछ देर चुप रहकर मैं रुँधे कंठ से बोली—

“अब क्या मेरे लिए कोई मार्ग ही शेष नहीं है ? आप किसी भी प्रकार क्षमा न कर सकेंगे ?”

“यह तो आपकी भाषा नहीं है। बात क्या है ? यदि मेरे योग्य कोई कार्य हो तो बिना भूमिका के ही बता दीजिये।”

“ऐसा क्यों कहते हैं सुधीबाबू ?”

“बात यह है कि जब तक आप लोग हमें गालियाँ देते हैं तब तक तो हम आपकी भाषा समझ पाते हैं किन्तु जैसे ही उस में मिठास का स्वाद मिलता है वैसे ही भय के मारे मेरे प्राण काँप उठते हैं।”

“आप काँपेंगे भय से ?”

“विश्वास नहीं होता ?”

“विश्वास करने न करने की बात नहीं है सुधीबाबू ! मैं जानती हूँ कि आप देश-विदेश घूमे हैं। पढ़ा-लिखा भी बहुत है पर चाहे इसे आप मेरा दम्भ ही मानें पर एक सत्य मैं भी आपको सिखा सकती हूँ।”

सुनकर सुधीबाबू खिलखिला पड़े फिर अचानक चुप हो गये !

मैं रुँधे कंठ से कहने लगी—“मेरी बात पर हँसकर आप चाहे जितना मेरा अपमान करलें किन्तु इतनी रात गये जो कहने के लिए मैं यहाँ आ बैठी हूँ सो कहकर ही जाऊँगी।”

“कहिये !”

“कोठियों में पैदा होने वाले सब एक ही जाति के हैं यह आप क्यों मानते हैं ?”

“प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण नहीं माँगा जाता। सो आप भी न माँगिये।”

“मैं प्रमाण नहीं माँगती। आपके इस विश्वास को तोड़ने के लिए कुछ प्रमाण मैं स्वयं ही दे रही हूँ।”

“मुझे सुनकर प्रसन्नता होगी।”

“सुधीबाबू ! गौतम बुद्ध और स्वामी महावीर ने भी महलों में ही जन्म लिया था किन्तु वे थे अपनी जाति से नितान्त दूर—ऐसा आप नहीं मानते ?”

सुनकर सुधीबाबू कुछ देर चुप रहे फिर बोले—“वह थो बहुतलता एवं अति सुख की प्रतिक्रिया मात्र और जो प्रयत्न इन राजकुमारों ने किया वैसा इससे पूर्व भी अनेकों महात्माओं ने किया था किन्तु इन राजकुमारों की अति प्रसिद्धि का बहुत कुछ कारण था उनका राजकुमार होना, महलों में जन्म लेना !”

“यह तो आपका सचमुच ही अन्याय है सुधीबाबू। इसे तो मैं आपकी पूँजीपतियों के विरुद्ध द्वेष-भावना ही कहूँगी।”

“वह तो आपका अपना विचार है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचार रखने में स्वतन्त्र है किन्तु यह तो बताइये आज आप कहना क्या चाहती हैं ?”

‘उस दिन जो अपराध मुझ से बन गया था उसके लिए क्या आप हृदय से मुझे क्षमा नहीं कर देंगे ?’

“लिली ! मैंने तो उस बात के लिए बुरा ही नहीं माना तब क्षमा करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?”

उनके मुँह से ‘लिली’ सम्बोधन सुनकर मुझे विश्वास हो गया कि वे अब उतने दूर नहीं रहे हैं जितना अब तक मैं मानती आयी थी, फिर बोली—“अभी आपने कहा था कि गालियाँ देकर बाहर निकालने ।”

बीच ही में बोल उठे—“ओह ! वह तो मैंने साधारण मानव-स्वभाव की बात कही थी ।”

“तो फिर आपने बुरा क्यों नहीं माना ?”

“इसलिए कि आपने वह गाली मुझे नहीं दी थी। वह गाली दी थी आपने एक अशिक्षित ग्वाले को ! जब आपको कहीं से पता चला कि मैं शिक्षित हूँ तो आप क्षमा-याचना करने लगीं। इसलिए मुझ व्यक्ति के लिए बुरा मानने का प्रश्न ही नहीं उठता किन्तु.....कहकर वे चुप हो गये ।”

“किन्तु क्या सुधीबाबू ?”

“किन्तु देवी ! मेरे अन्दर का वह ‘मैं’ जो साधारणतः व्यक्तिगत मानापमान के लिए सुख-दुःख मान बैठता है वह कभी का मिट चुका है । मैं हूँ उस मैं का प्रेत-मात्र ! जो अपनी सर्वहारा शक्ति से उस कोठी वाले समाज को मिटा डालना चाहता है ।”

सुनकर मैं काँप गई । फिर एक लम्बी उसाँस लेकर बोली—
“तो क्या आप इस देश में भी रूस-फ्रांस जैसी राज्य-क्रांतियों के द्वारा रक्त बहायेंगे ?”

“लिली, जब शरीर में अन्दर-ही-अन्दर हड्डी टूटकर चूर हो जाती है तब नश्वर से शरीर फाड़कर ऑपरेशन करना होता है । अपने ही शरीर की उस हड्डी को बाहर निकाल फेंकना होता है । कभी-कभी प्राण बचाने के लिए उम अंग को भी काटकर फेंक देना होता है । उस समय हमारा उद्देश्य प्राण-रक्षा होता है । हमें कर्म की पवित्रता उसके उद्देश्य से माननी चाहिए । हमारी दृष्टि है साध्य की, और साधन का हमारे लिए कोई महत्त्व नहीं है ।”

“अच्छा छोड़िये इसको, आज आपका मन भारा क्यों है ?”

“वह बूढ़ा दूध वाला एक ऐसी ही घटना सुनाकर चला गया है । सुनकर चित्त दुखी हो ~~जा~~ है ।”

“सुधोबाबू ! एक बात आपको माननी ही पड़ेगी । मारेंगे ?”

“कहिए ।”

“आज आपको मैं अपनी गाड़ी में बिठाकर आपके घर तक छोड़ने चलींगी ।”

“ऐसा क्यों सोच रही हैं आप ?”

“दयाभाव दिखाने का लोभ नहीं है मुझे । मात्र आत्म-संतोष के लिए ।”

“अच्छा चलिये ।” कहकर वे खड़े हो गये ।

तब मैं समझी कि उन्होंने मुझे सम्पूर्ण मन से क्षमा कर दिया है ।

मल्हाड़ की ओर कुछ मजदूरों ने गन्दी नालियों के बीच कुछ भोंपड़ियाँ बना ली हैं। उन्हीं के पास कुछ पुराने दूटे एक मंजिले-दुमंजिले मकान थे।

सुधीबाबू ने एक दुमंजिले मकान की ओर संकेत किया। मैंने गाड़ी उसी के सामने खड़ी कर दी। गाड़ी से उतर कर सुधीबाबू के पास जा खड़ी हुई।

सुधीबाबू 'नमस्कार' कहकर मकान की ओर चल पड़े। तभी मैं बोली—

“क्या घर आये अतिथि को पानी के लिए भी न पूछेंगे?”

“सचमुच ही आप विचित्र हैं! आइये।” और मैं उनके पीछे-पीछे चलने लगी।

उस मकान के ऊपर एक कमरा था। सामने छोटी सी छत थी। कोने में एक रसोईघर था।

सुधीबाबू ने दियासलाई से झुट्टी का दिया जलाया। मुझे वहीं बिठाकर वे सीढ़ियों से नीचे उतर गये।

किसी के कमरे में बिना आज्ञा कुछ भी छूना अशिष्टता है किन्तु मैं अपनी जिज्ञासा किसी भी प्रकार न रोक सकी। मैं उठकर इधर-उधर रक्खी चीजें उलटने-पलटने लगी।

कमरे में विशेष सामान नहीं था। एक चटाई पर एक दरी पड़ी थी। कुछ किताबों पर एक चादर को तह जमाकर तकिये का काम लिया जा रहा था। एक खूँटी पर एक थैला टँगा था। एक ओर काठ की अलमारी थी, उसमें बहुत सी किताबें बेतरतीब रक्खी थीं। उसी के ऊपर एक वॉयलिन का केस रक्खा था। कोने में एक छोटी-सी मेज़ थी। उस पर एक नीली मोटी कापी रक्खी थी, मैं उसी के पन्ने पलटने लगी।

उसमें दैनिक जीवन में घटी घटनाओं का उल्लेख था। मेरा 'रीक्षा-फल' १५ जून को घोषित किया गया था, उसी दिन मैंने उन्हें 'रेस्कैल' कहकर घर से निकल जाने को कहा था। सो दरवाजे की ओर उनके लौट आने की आशंका से एक बार भयभीत आँखों से देखकर मैं उस कापी के पन्ने पलटने लगी।

१५ जून के दिन उन्होंने उस कापी में लिखा था—संगीत मैंने अनेकों बार सुना है। पूर्वी-पश्चिमी संगीत को समझ भी सकता हूँ किन्तु आज उस लड़की के कंठ से निकली तानों में कैसी मादकता थी ! कैसी तन्मय होकर वह गा रही थी !

उसका काँपता स्वर सुनकर मैं स्तब्ध-सा रह गया। रूप-स्वर, संगीत का ऐसा मेल इससे पूर्व कहीं देखने को नहीं मिला। नहीं जानता, मैं उसे किन आँखों से देख रहा था।

वंशगत दर्प के कारण यह मेरे उस प्रकार के देखने को सह नहीं पाई। सो उसके द्वारा दिया गया 'रेस्कैल' का उपहार लेकर लौट आया हूँ। मैं उसके उस काँपते कंठ को भूल जाना चाहता हूँ पर भूल नहीं पाता। लगता है वह अब भी गाये जा रही है !!

पढ़ते-पढ़ते न जाने क्यों मैं सिहर उठी ? तभी सीढ़ियों से किसी के पैरों की ध्वनि सुन पड़ी। मैंने उस कापी को जहाँ-का-तहाँ रख दिया और अपने पूर्व-स्थान पर आ बैठी। सोचने लगी—तो इन्हें मेरा गाना इतना पसन्द आया है। यह भी वॉयलिन बजाते हैं। तभी तो है यह यहाँ। बहुरूपिया !

सुधीबाबू के हाथ में दो लेमनेड की बोतलें और कुछ खाने-पीने का सामान था। नीचे दरी पर बैठकर कुछ अखबारों पर उस सब को रखकर बोले—

“आइये ! आज तो दिन भर उपवास ही करना पड़ा। थोड़े चनों से उपवास तोड़ना पड़ा था किन्तु कौन जानता था कि सोने से पूर्व आपकी कृपा से यह व्यञ्जन भी प्राप्त हो

सकेंगे ?”

“यहाँ भी आपको मेरी कृपा के ही दर्शन हो रहे हैं !” कहते-कहते मैं दरी के एक किनारे पर सकुचाती-सी बैठ गयी और उन व्यञ्जनों को धीरे-धीरे चखने लगी। फिर लैमन का एक घूँट पीकर कहा—

“सुधीबाबू !”

“जी !”

“वह बूढ़ा ग्वाला क्या कह रहा था ?”

सुनकर सुधीबाबू का चेहरा उतर गया। एक लम्बी साँस छोड़ते हुए बोले—“कुछ नहीं, मेरी एक परिचित, लड़की उपा ने उसके सिर से भ्रम का भूत उतार दिया सो अपना रोना राने आया था। सारी बात फिर बताऊँगा।”

“फिर कभी बता सकते हैं तो आज क्यों नहीं ?”

“तुम्हें घर जाने के लिए देर हो जायगी।”

“उसकी चिन्ता न करिये।”

“अच्छा ! बात यह थी कि एक दिन वह बूढ़ा टैक्सी के एक्सीडेंट में चोट खा गया। मैं उसके पड़ोस ही में रहता था। उसने तीसरी शादी की थी। उसकी तीसरी पत्नी की उम्र उन्नीस-बीस वर्ष रही होगी। ऐसी पति-परायणा नारी इससे पूर्व मैंने नहीं देखी थी।

उसका पति जब घर आया तो काफी चोट थी। पुलिस उसे घर छोड़ गयी थी। उसकी स्त्री का नाम था रूपा। अपने नाम के अनुरूप वह सचमुच ही रूपसी थी। किन्तु उस दरिद्री बूढ़े का पत्नी का वह रूप ही उसके लिए अभशाप बन गया।”

“सो कैसे सुधीबाबू ?”

“आसपास कुछ अविवाहित बाबू रहते थे। वे सभी उसके इर्द-गिर्द चीलों की भाँति मँडराने लगे। इस बात को लेकर उस

बूढ़े ग्वाले ने कई बार उसे मारा-पीटा भी था ।

“उसे क्यों पीटा सुधीवाबू ?”

“बूढ़ा समझता था कि उन बाबुओं के इस प्रकार मँडराने में रूपा का भी हाथ था—उस दिन वह मेरे पास दौड़ी आयी । उसकी आँखों से आँसु भर रहे थे । मेरे द्वार पर आकर खड़ी हो गयी और हाँफती-सी बोली—

“जल्दी चलिये ! उनके बहुत चोट आ गयी है ?”

“मैं उसके साथ गया । उस बूढ़े को थोड़ी देर में बेहोशी आ गयी । डाक्टर बुलाया । डाक्टर दवा देकर चला गया । सुबह उसको होश आया । उसे अपने बच जाने की खुशी नहीं थी—उसे चिन्ता थी कि जब तक ठीक नहीं हो जाता तब तक घर-घर जाकर दूध की सप्लाई कौन करेगा ?”

मैं बोली--“और इस बीच उसकी जगह आप ग्वाले बन गये ?”

वे सिर झुकाये कहे जा रहे थे—“और लिली ! उन दिनों मुझे उसके घर समय-असमय जाना ही पड़ता था । सो उस बूढ़े ने मुझ पर भी सन्देह किया ।”

“आप पर ?”

“क्यों ? क्या मुझ पर कोई सन्देह नहीं कर सकता ?”

“नहीं सुधीवाबू ! आप पर कोई नहीं कर सकता ।”

“किन्तु उस बूढ़े ने यही किया था । जब मुझे पता चला तो मैं वह कोठरी छोड़कर यहाँ चला आया ।”

“क्यों किया उसने ऐसा ?”

“लिली ! इस पूँजीवादी व्यवस्था में मानव मानव को खाकर जीवित रहना चाहता है । सभी अपने को अरक्षित समझते हैं । यह अविश्वास इस व्यवस्था का ही परिणाम है । इसमें मनुष्य का क्या दोष है ?”

आज कोई यह विश्वास ही नहीं कर सकता कि कोई

निस्वार्थ होकर भी किसी की सहायता कर सकता है। सो मेरी उस निस्वार्थ सहायता में उस बूढ़े को भी किसी बड़े स्वार्थ की गन्ध आयी।”

“फिर सुधीवाबू !”

“जिस समय मैं कोठरी छोड़कर जाने लगा तब वह बूढ़ा दूध वाँटने गया था। तब वह रूपा मेरे द्वार की चौखट पर आ बैठी। कुछ देर बैठी रही फिर बोली—

“आप किसी भी तरह क्या रुक नहीं सकते ?”

“मेरे रुक जाने से तुम्हारे कष्ट बढ़ते ही जायेंगे—घटेगा कुछ नहीं, सो मैं अच्छी तरह जानता हूँ।”

“आप इसकी चिन्ता क्यों करते हैं ? पिछले चार साल से मेरे साथ यही तो होता आ रहा है।”

“किन्तु मेरे कारण तो नहीं होना चाहिए।”

“नहीं, सो नहीं होगा बाबू ! ऐसे देवतास्वरूप आदमी को मेरे लिए यहाँ से जाना पड़े, सो मैं नहीं सह पाऊँगी। यह कहे देती हूँ फिर भी जाने के लिए आपका मन करे तो चले जाइये।”

“और जब मैं चलने लगा तब किस प्रकार वह मेरे पैरों पर लोट-लोटकर विलाप करने लगी सो मैं कभी भी न भूल सकूँगा। तभी मैंने देखा वह बूढ़ा मेरे द्वार पर आ खड़ा हुआ। फिर जिस प्रकार रूपा के बाल पकड़कर धसीटता वह वहाँ से ले गया सो देखकर मैं किर्कतव्य-विमूढ़-सा खड़ा रह गया।”

कहते-कहते सुधीवाबू की आँखें छल-छला आयीं।

“और आप उसे छाँडकर चले आये ?”

“हाँ, मैं तो इधर चला आया और वह मेरे इस प्रकार चले आने को सचमुच ही न सह पायी। उसी दिन अफीम खाकर लेट रही। जब शाम को बूढ़ा दूध वाँटकर आया तो उमने देखा कि रूपा के प्राण-पखेरू उस पिञ्जर को तोड़कर उड़ गये थे।”

कहते-कहते वे खड़े हो गये। फिर धीरे-धीरे कमरे से बाहर निकल गये।

बाहर छोटी-सी छत के किनारे एक कोने पर जा बैठे। यह देखकर मैं अचरज में डूब गयी कि वह महान् क्रान्तिकारी जिसने जीवन में जाने कितने नर-हत्या—जैसे जघव्य काम किये होंगे सो वही एक मृत नारी के लिए बैठा सिसक रहा था।

मैं उनके निकट जाकर बैठ गयी। जी चाहा अपनी हथेलियाँ उनकी जलती आँखों पर रख दूँ। वह वेदना जो आँसू बन-बनकर बह रही थी उसे अपने आँचल से पोंछ दूँ। तभी सीढ़ियों पर किसी के चढ़ने की आवाज़ सुनी। मैं थोड़ी हटकर बैठ गयी।

आते ही वह आगन्तुक सुधी दादा के पैर पकड़कर कहने लगा—“दादा ! जल्दी चलिये माँ को हैजा हो गया है। तडप-तडप कर मरी जाती है। चलिये दादा ! जल्दी चलिये !!”

उसके कण्ठ-स्वर से ही मैंने समझ लिया कि यह वही होटल वाला मजदूर शराबी माधो है। सुधीदादा कुर्ते के किनारे से आँसू पोंछते-पोंछते अन्दर गये। मैं भी उनके पीछे गयी।

उन्होंने खूँटी से वह भोला उतारा और बोले—“लिली ! मैं भी चल रहा हूँ। हो सके तो वहाँ तक छोड़ती जाना।”

कुछ औपधियाँ जेब में रखकर भोला उन्होंने खूँटी पर टाँग दिया। उनके हाथ की अँगुलियाँ मशीन की भाँति चल रही थीं। द्रुतगति से वे सीढ़ियाँ उतरकर नीचे जा खड़े हुए।

मैं सीढ़ियाँ उतरते-उतरते सोचने लगी—कैसा दुर्भाग्य है इस मानव का ? दुख के समय आँसू बहाने के लिए भी अपना कहने लायक समय नहीं है इसके पास। संसार के सुख-दुख का ध्यान रखता है पर इसके मुख दुख, भूख प्यास की बात पूछने वाला कौन है ?

घर लौटी तो रात के दस बज चुके थे। खाने-पीने के लिए तनिक भी जी न कर रहा था किन्तु यह सोचकर कि न खाने पर घर में व्यर्थ भाग-दौड़ मचेगी। इसलिए खा-पीकर जैसे ही कमरे में गई कि खाया-पिया सब कुछ निकल गया।

डाक्टर आया। दवा दी और मैं चुपचाप लेट गयी। और मन जा पहुँचा उन्हीं मल्हाड़ के रास्ते पर बनी भोंपड़ियों में। उस रौरव नर्क में बनी भोंपड़ी। जिसमें माधो की माँ हैजे में तड़प रही थी, कै और टट्टी को दुर्गन्ध में खड़ा नहीं हुआ जा रहा था और उसी भोंपड़ी में बैठे सुधीबाबू उस बुढ़िया को दवा पिला रहे थे। पापाण-प्रतिमा की भाँति वे बैठे थे।

सोचने लगी, क्या सचमुच वह मानव न होकर है मात्र मानव का प्रेत है। यही तो कहा था—मेरे अन्दर का वह 'मैं' जो साधारणतः व्यक्तिगत मानापमान के लिए सुख-दुख मान बैठता है वह कभी का मिट चुका है। मैं हूँ उस 'मैं' का प्रेत-मात्र।

तभी तो हैजे से पीड़ित उस बुढ़िया को बिखरी कै-टट्टी में बैठ पाते हैं। और फिर एक आशंका मेरे रोम-रोम में ऐसी व्याप्त हो उठी कि मैं सारी रात बिस्तर पर पड़ी-पड़ी छटपटाती रही। सोचती रही—कहीं सुधीबाबू को वह छूत की बीमारी न धर दबाये।

सुबह शुक्र तारा उदित हुआ। मैं पड़ी-पड़ी उसी शुक्र तारे को देखती-देखती सोचने लगी—नित्य इसी प्रकार उदित होकर यह शुक्रतारा युग-युगों से अँधियारी रात के मिटने और प्रभात होने की सूचना देता आ रहा है। ये क्रांतिकारी भी होता है—शुक्र तारा !

जो आनेवाले स्वर्णयुग की आशा बँधाकर अस्त हो जाता है ।

सोचा था कि सुबह ही एक बार जाकर सुधीबाबू की खोज-खबर ले आऊँगी किन्तु उठने से पहिले ही माँ ने सन्देश दिया — “लिली उठ ! तेरे भय्या का हवाई जहाज आने में आधा घण्टा ही शेष है ।”

मैं पिता जी के साथ गाड़ी लेकर एयरोड्राम पर गयी । दो वर्ष बाद भय्या को देखा था । भय्या बिलकुल बदल गये थे । अब उनकी आँखों में मेरे प्रति पहिले जैसा स्नेह-भाव शेष नहीं था ।

लगता था सब कुछ उस सभ्य देश में छोड़ आये हैं और साथ लाये हैं शुष्क आडम्बर ! सभ्यता के प्रतीक एटीकेट्स ! सो उन्हीं एटीकेट्स की सीमाओं में वे मुझे मिले और गाड़ी में जाकर बैठ गये ।

पिताजी के पैर न छूकर उन्होंने हेट उतारकर मात्र हस्त-मर्दन द्वारा ही पिता-पुत्र के सम्बन्धों को निवाह लेना पर्याप्त समझा ।

गाड़ी घर की ओर दौड़ी जा रही थी और भय्या वहाँ की रीति-नीति, सभ्यता, शिष्टता की व्याख्या करते अघाते न थे । पिता जी के चेहरे पर बिखरी वैसी दयनीयता इससे पूर्व मैंने कभी न देखी थी ।

लगता था जैसे वर्तमान में बैठे वे अपना सुदूर भविष्य देख लेने के लिए प्राणपण से चेष्टा कर रहे हैं ।

भय्या घर आये । माँ ने आरती उतारी । भय्या भुँझला उठे । आरती उतारकर माँ इस प्रकार पैर बढ़ाकर खड़ी हो गयी कि भय्या उनके पैरों पर अपना माथा टेककर उन्हें प्रणाम करेंगे किन्तु पश्चिमी शिष्टता के नये विद्यार्थी भय्या ने माँ का माथा चूमा और ऊपर के कमरे में चले गये । माँ मुँह फाड़े अवाक्-सी

देखती वहीं खड़ी रह गयी ।

घर में दो गाड़ी थीं । एक पिता जी ले गये और दूसरी भग्या ने अपना ली । सुधीवाबू की खोज-खबर लेने के लिए पल-पल युगों की भाँति बीत रहा था सो मैं पैदल ही चल पड़ी । बस जल्दी ही मिल गयी । आधे-पौने घण्टे में ही सुधीवाबू के कमरे में जा पहुँची ।

सुधीवाबू सो रहे थे । लगता था उस बुढ़िया का स्वर्ग के लिए पासपोर्ट बनने में बाधा देकर वे रात-भर जागते रहे हैं ।

किवाड़ खुलने की आहट पाकर उन्होंने आँखें खोलीं । मुझे उस कमरे में देखकर कुछ सकपका-से गये । उठकर बाहर गये । हाथ-मुँह धोकर जब लौटे तो कुर्त्ते के छोर से मुँह पोंछते-पोंछते बोले—

“कहिये ! इस समय कैसे कष्ट किया ?”

“वैसे ही चली आयी थी ।”

“सोचा होगा हैजे के डाक्टर को कहीं……।”

“सो मैं क्यों सोचूँगी ?”

“क्यों ?”

“जो अपनी सर्वहारा शक्ति से हमें, हमारी कोठियों को मिटा डालने का संकल्प कर बैठा है उसके लिए मुझे क्यों चिंता हाने लगी ?”

“तुम उनमें से नहीं हो लिली ?”

“पहिचान लिया ?”

“हाँ ।”

“कब ? कहाँ ? कैसे ?”

“कल हैजे से पीड़ित उस बुढ़िया की भोंपड़ी में ! दवा पिलाते समय जिस प्रकार तुमने उसके पैर पकड़े थे । जैसे उस रौरव नर्क में मेरे साथ खड़ी रही थीं । वह सब तुम्हें उस कोठी

वाली जाति से अलग कर देता है ।”

“मुझे पहिचानने में इतना समय क्यों लगा ?” सुनकर सुधी-बाबू हँसने लगे, फिर बोले—

“दूध का जला छाछ को भी फूँक-फूँककर पीता है ! सुना है न !”

“हाँ सुधीबाबू ! उस बुढ़िया को बचा पाये या नहीं ?”

“हाँ बच तो गयी ।”

“रातभर जागते रहे होंगे ?”

“जागना तो पड़ता ही ।”

“मैंने आपको सोने भी न दिया ।”

“नहीं, उठ ही रहा था ।”

“कहीं जाना था ?”

“हाँ !”

“कहाँ ?”

“तुम्हारी मिल के मजदूरों को भड़काने !” मैं बोली—“अच्छा जाने दीजिये उस बात को यह लीजिये—” कहकर मैंने अपना बटुआ खोला । घर से चलते-चलते मैं कुछ मिठाई डाल लायी थी । मिठाई खाते-खाते सुधीबाबू बोले—“लगता है इन लच्छणों से आपका यहाँ आना-जाना जल्दी ही समाप्त हो जायेगा ।”

“सो कैसे ?”

“यही तो सबके साथ होता है । पतंग को ऊपर चढ़ाकर डोरी के सहारे संकेत पर नचाने का लोभसंवरण कोई भी पतंग उड़ानेवाला नहीं कर पाता ।”

“मैं समझी नहीं सुधीबाबू !”

“इस देश में माँ-बाप लड़कियों का मस्तिष्क शिक्षा द्वारा विकसित करते हैं, उनमें स्वतन्त्रता का भाव भरते हैं फिर संदेह और रूढ़ि-प्रेम की डोरी से बाँधकर पतंग की भाँति मनचाही

दिशा में उड़ाते हैं ।”)

“मेरे पिताजी उनमें से नहीं हैं ।”

“लिली !”

“जी !”

“जिस मार्ग पर तुम चल पड़ी हो वह तुम्हारे लिए ठीक नहीं है ।”

“क्या मतलब ?”

“मतलब यह है कि जिस उम्र में तुम जा रही हो उसमें सभी युवक-युवती वैराग्य-स्वातन्त्र्य और विचित्रता-भरे रोमांटिक जीवन की कल्पना करते हैं किन्तु थोड़े दिनों में ही माँ-बाप और समाज द्वारा कोड़ों की मार खाकर चीख उठते हैं । कुछ वापस लौट जाते हैं और जो बहुत दूर जा चुकते हैं वे मेरी भाँति फिर कभी नहीं लौट पाते ।”

“सुधीबाबू ! मेरे बारे में आप वैसी दुश्चिन्ता न करें । मैं अपने मार्ग की कठिनाइयों को भली भाँति समझती हूँ ।”

“उत्साह और उमंग में सभी पर्वतारोही ऐसी ही बातें करते हैं ।”

तभी नीचे से आवाज़ आयी—“दादा !”

सुधीबाबू ने खिड़की से झाँककर देखा ।

नीचे से फिर आवाज़ आयी—

“दादा ! जल्दी आइये मेरे छुटके को हैजा हो गया है ।”

सुनकर मैं काँप गयी । बोली—“जायेंगे ?”

“आपके पिताजी उन्हें इतने पैसे तो देते नहीं जा! डाक्टर की सहायता ले सकें । मैं ही तो हूँ उनका डाक्टर । सो बिना जाये कैसे चलेगा ?”

सुधीबाबू भोले से दवायें निकालकर जल्दी से बाहर आगये । मैं भी उनके पीछे-पीछे चल दी ।

सुधीबाबू मुड़कर बोले—

“आज गाड़ी नहीं लाई ?”

“नहीं !”

“तो लौट जाइये ।”

“मैं भी चलूँगी ।”

“कहाँ ?”

“वहीं जहाँ आप जा रहे हैं ।”

“नहीं लिली, तुम वहाँ न जाओ ।”

“क्यों ?”

“हैजा चीते की भाँति मारने वाले पर उल्टा आक्रमण भी कर बैठता है ।”

“और आप ?”

“मेरी बात दूसरी है ।”

“मैं चाहती हूँ मेरे साथ भी वैसी ही दूसरी बात हो ।”

“लिली ! मेरा आग्रह है तुम वहाँ न जाओ ।” जिस स्नेह और अनुरोध-भरी आँखों से उन्होंने मुझे देखा सो मैं किसी भी प्रकार आग्रह की उस रेखा को न लाँघ सकी ।”

“अच्छा नमस्कार !

‘नमस्कार’ कहकर मैं खड़ी देखती रही और वे जल्दी-जल्दी पैर उठाते चले गये ।

+ + +

भय्या को विलायत से लौटे तीन मास बीत गये थे उस दिन उनका जन्म-दिवस था । उसी सम्बन्ध में पिताजी ने कुछ लोगों को निमन्त्रित किया था । बोले—“बेटी ! तेरे कोई परिचित हों तो उन्हें भी बुला लेना ।”

निमन्त्रण रात के आठ बजे का था सो गाड़ी लेकर मैं साढ़े सात बजे सुधीबाबू के यहाँ जा पहुँची ।

साँझ की गोधूलि काली अँधियारी रात में बदल चुकी थी। मैं गाड़ी सड़क के एक किनारे खड़ी करके जैसे ही सुधीबाबू के मकान की ओर बढ़ी वैसे ही मेरे कानों में कहीं बेला बजने की आवाज़ सुनाई पड़ी। मैं उन सीढ़ियों पर चढ़ने लगी। और सुनने लगी वॉयलिन का मर्म-भेदी चीत्कार ! मेरा सारा शरीर झनझना उठा।

मैं दीवाल का सहारा लिये खड़ी हो गयी। वह रुला डालने वाली बेला का कम्पन सुन-सुनकर लगता था जैसे कोई मेरे प्राण खींचे ले रहा है। लगता था जैसे कुछ छाती फाड़कर बाहर आ जाना चाहता है। छल-छल मेरी आँखें वरस पड़ीं।

तभी वह रुला डालने वाला कम्पन बिखर-बिखरकर रुक गया और मैं कमरे में पहुँची। वॉयलिन एक ओर पड़ी थी। वो उनके हाथ में थी। सुधीबाबू एक हाथ पर माथा टेके बैठे थे।

मैंने धीरे से कहा—

“सुधीबाबू !”

“जी ! ओह ! आप हैं !”

“कहिये”

“क्या हुआ ?”

“उस बच्चे को बचा नहीं पाया।”

“बहुत दुख हो रहा है ?”

“लिली ! उसकी वे फटी आँखें किसी भी प्रकार भुला नहीं पाता। वह सात साल का बच्चा मेरे हाथ खींच-खींचकर कह रहा था—‘दादा ! मुझे बचा लो मुझे मरने न दो। दादा ! मुझे बचालो !’ और लिली ! मैं उसे बचा नहीं पाया” ब... कहते-कहते उनकी आँखें छल-छला आयीं।

तब मुझे याद आया। एक दिन उषा ने कहा था—सुधीबाबू ने नारी-हृदय पाया है।

कुछ देर चुप रहकर वे बोले—

“लिली ! अपने विगत जीवन में जाने कितने प्राणियों को मरते देखा है किन्तु जब से उस लड़के की जीवित रहने के लिए उस पुकार—‘दादा ! मुझे बचालो ! मुझे मरने मत दो !’—सुना है तब से लगता है जैसे आज देश के लक्ष-लक्ष भोंपड़ियों में रहने वाले बच्चे मेरा हाथ खींच-खींचकर आँखों में मृत्यु-यन्त्रणा छिपाये बिलबिला रहे हैं। जीवन के लिए छटपटा रहे हैं ! चीख रहे हैं !! कालदेव के जबड़ों में पिसते-पिसते पुकार रहे हैं—

“दादा ! मुझे बचा लो, मुझे मरने न दो दादा ! मुझे बचा लो ! बचा लो !! बचा लो !!” कहते-कहते सुधीबाबू की आँखें भर आई ।

आज यह याद करके मैं लाज और अचरज के भाव में डूब-सी जाती हूँ कि कैसे मैंने जीवन में पहिली बार एक पुरुष की आँखों से बहते आँसू एकान्त में अपने हाथ से पीछे थे ।

जिस रूमाल से मैंने सुधीबाबू के आँसू पोंछे थे वह रूमाल मैंने उनके अनेक आग्रह करने पर भी वापस नहीं लिया था । न जाने किस आन्तरिक भाव की प्रेरणा से मैंने चाहा था कि मेरा वह रूमाल सुधीबाबू अपने पास ही रक्खें ।

तब अन्दर से उठती उसाँस को रोककर मैंने धीरे से कहा—

“सुधीबाबू अब चलिये !”

“कहाँ ?”

“मेरे घर ।”

“आपके घर ?”

“जी !”

“क्यों ?”

“आज आप हमारे यहाँ निमंत्रित हैं ।”

“मैं ?”

“जी !”

“ऐसा तो कभी नहीं हुआ, सो कैसे ?”

“समझी नहीं सुधीबाबू ! क्या नहीं हुआ ?”

“कोठी वालों से मुझे आज तक निमंत्रण नहीं मिला । यह कैसे हुआ लिली ?”

“मेरे पिताजी वैसे नहीं है । आप उन्हें नहीं जानते सुधी-बाबू ! उनके अन्दर एक महान् कलाकार की आत्मा है । उन्होंने अपना समस्त जीवन संगीत की साधना में बिता दिया है । उनके संयमी जीवन और भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी सजीव आस्था को देखकर मैं श्रद्धा से भर उठती हूँ ।

चलिये सुधीबाबू ! आज मैं कोठी में रहने वाले अपने उन पिताजी का परिचय आपसे कराऊँगी, जो आपकी कल्पना से सर्वथा विपरीत सिद्ध होंगे ।”

“नहीं लिली ! आज मैं न चल सकूँगा ।”

“क्यों ?”

“ऐसे ही, मन नहीं करता ।”

“आपके इस पापाण-शरीर में कहीं मन-जैसी वस्तु भी छिपी पड़ी है ?”

“हाँ, है ! लिली ऊपर से पापाण दिखाने वाले व्यक्तियों में शायद यह ‘मन’ कहीं जाने वाली वस्तु सबसे अधिक विद्यमान रहती है ! ऊपर की वह कठोरता अन्तर में छिपे इस भाव को दवाने का प्रयत्न-मात्र ही समझना चाहिए लिली !”

सुनकर मैं एकटक सुधीबाबू को देखती रही फिर आर्द्र कंठ से बोली—

“सुधीबाबू ! चलिये, यदि और किसी कारण न चल सकते हों तो मेरे लिए ही चलिये ! चलेंगे ?”—कहकर मैं अप-

लक नयनों से उन्हें देखने लगी ।

मैं नहीं जानती मेरी आँखों में ऐसा उन्होंने क्या देखा । वे एक लम्बी निश्वास छोड़कर बोले — “अच्छा चलो ।”

घर जब पहुँची तो कोठी अतिथियों से भर चुकी थी । बाहर के चौक में इतनी गाड़ियाँ खड़ी थीं कि कहीं भी मेरी गाड़ी के लिए स्थान शेष न रहा था । मैंने गाड़ी कोठी से बाहर सड़क पर एक किनारे खड़ी कर दी और सुधीबाबू के साथ कोठी में प्रवेश किया । उन क्षणों के रोम-रोम में व्याप्त अपने उस उल्लास को मैं आज भी नहीं भूली हूँ ।

बड़े कमरे में गोलाकार अतिथियों का झुण्ड बैठा था । जब सुधीबाबू के साथ उस बड़े कमरे में प्रवेश किया तब पता नहीं पिताजी की किस बात को लेकर वह अतिथि-समूह खिलखिलाकर हँस पड़ा था । सो मैंने पूर्व ही सुन लिया था ।

कुछ उस हँसी को रोकने का असरल प्रयास कर रहे थे, कुछ हँसे जा रहे थे किन्तु जैसे ही मैंने सुधीबाबू के साथ उस कमरे में पैर रक्खा तो लगा जैसे उन सबके मुँह काले पड़ गये हैं ।

सहसा उस कमरे में स्तब्धता छा गयी । उस सन्नाटे में मैंने पिताजी की ओर देखा । वे जाने कैसी शंकित भयभीत आँखों से मुझे देख रहे थे ।

मैं आश्चर्यचकित-सी चारों ओर देखने लगी । न जाने क्या हुआ मुझे ? मैं सब कुछ भूल गयी । यह भी भूल गयी कि सुधीबाबू मेरे साथ हैं । उस वातावरण की स्तब्धता में मैं ऐसी खो गयी कि स्वप्नाविष्ट-सी चलती-चलती पिताजी के पास सोफे पर जा पड़ी ।

तभी पिताजी का कण्ठ-स्वर सुन पड़ा । वे दबे स्वर में कह रहे थे, “यह क्या किया बेटी ? इसे यहाँ क्यों ले आयी ?”

और तब मुझे सुधीबाबू की याद आयी । वे उन अतिथियों

के बीच मेरी ओर देखते चुपचाप खड़े थे। मैं पिताजी को बात को अनसुनी-सी करती सुधीबाबू के पास जा पहुँची और पिताजी के पास पड़ी एक खाली कुर्सी पर उन्हें बिठाकर मैं भी वहीं बैठ गया।

मैं किसी भी प्रकार उस निस्तब्धता का कारण नहीं समझ पा रही थी, तभी भय्या बोले—

“लिली ! अपने इन विशिष्ट अतिथि का परिचय नहीं कराया।”

जवाब दिया सुधीबाबू ने ! वे ओठों पर एक विचित्र मुस्क-राहट-सी बिखेरते बोले—

“मेरी विशिष्टता से सभी परिचित हैं। हाँ, अजीत बाबू ! आप अभी तक”

भय्या ने सदा की भाँति कंधे सिकोड़कर दर्प-भरे स्वर में कहा—“मेरी खातिर ही सही।”

कहीं बात बढ़ न जाये इसलिए मैं बीच ही में खड़ी होकर कहने लगी—

“आप सुधीबाबू हैं। कलाकार हैं। कवि हैं। बहुत सुन्दर वाँयलिन बजाते हैं। बड़ी स्वतन्त्र-वृत्ति के व्यक्ति हैं। आप सब को इनसे मिलकर खुशी होगी।” कहते-कहते कनखियों से मैंने सुधीबाबू की ओर देखा।

उनकी हँसी रोके नहीं रुक रही थी। तभी मैंने उन्हें कहते सुना—

“जैसा कि अचानक छा गयीं इस स्तब्धता से स्पष्ट है।”

सुनकर लगा जैसे मेरी पिंडलियाँ काँपने लगीं हैं। तभी मैंने उस कमरे के द्वार पर खड़ी ऊषा को देखा। उसके साथ उसके पिताजी हरेन्द्र बाबू भी थे।

हरेन्द्र बाबू अपनी सहज हँसी बिखेरते पिताजी की ओर बढ़े

आ रहे थे किन्तु सुधीबाबू को वहाँ बैठा देख लगा जैसे उन्हें काला साँप सूँघ गया है ।

ऊषा को वहाँ पाकर मुझे लगा जैसे कुछ सहारा-सा मिल गया । उस वातावरण में मेरे प्राण घुट रहे थे ।

अन्दर से पिताजी के पास माँ की चिट आई ! पिताजी ने उठकर कहा—“आप लोग डाइनिंग हॉल में आने का कष्ट करिये । आशा है इस बिलम्ब के लिए आप मुझे क्षमा कर देंगे ।” विना किसी प्रकार का उत्तर दिये सभी एक-एक करके उठ गये, किन्तु सुधीबाबू शान्त, अँगूठा-तर्जनी से आँखें दबाये, चुपचाप वहीं अपने स्थान पर बैठे रहे ।

मैंने धीरे से जाकर कहा—

‘चलिये न सुधीबाबू !’

“बेचारों को अब भोजन तो कर लेने दीजिये । मेरी उपस्थिति में चम्मच और काँटे-छुरियाँ भी रुक जायेंगी; यह मैं बताये देता हूँ ।” कहकर वे हँसे पड़े । यह सुनकर मैं अचरज के मारे मुँह फाड़े सुधीबाबू को देखती ही रह गयी । तभी देखा—ऊषा भी चुपचाप वहाँ से खिसक गयी है ।

मैं मन-ही-मन सोचने लगी—ऊषा तो कहती थी कि कभी उसकी सुधीबाबू से घनिष्टता भी रही है । वह इनसे किताबें लेकर पढ़ा करती थी और इनके प्रति उसके मन में आदर-भाव भी है पर अब तो सुधीबाबू से एक शब्द भी नहीं बोली ! ‘नमस्कार’ कहने की शिष्टता भी नहीं बरती । सो क्यों ?

अतिथि के नाते पिताजी को कुछ तो बात करनी थी । क्या ये सब सुधीबाबू को जानते हैं ? क्या है यह सब ? क्या ? क्यों ?

तभी सुधीबाबू उठकर मेरे पास आये और ओठों पर वही विचित्र हँसी बिखेरते बोले—

“अच्छा तो अब यह विशिष्ट अतिथि चल दिया।”

“बिना खाये-पिये ?”

“मुझे कौन खिलायेगा-पिलायेगा ? देखिये न सभी खा-पी रहे हैं और मैं”

“किन्तु आपको किसने रोका”

“आग्रह भी तो किसी ने नहीं”

“मैं जो कर”

“आप ?”

“जी !”

“अभी बहुत भोली हैं आप ! कुछ नहीं जानतीं । तुम क्यों भ्रम में पड़ती हो ? अच्छा मैं चल दिया ।”

बिना मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये वे चल दिये ।

मैं विक्षिप्ता-सी उनके पीछे दौड़ते-दौड़ते कहे जा रही था—

“सुनिये सुधीबाबू ! बात तो सुनिये !!”

वे कोठी के गेट पर जाकर रुक गये । मैं हाँफती-हाँफती उनके अति निकट जाकर खड़ी हो गयी । फिर आँखों में उमड़ते आँसुओं को किसी प्रकार रोककर बोली—

“सुधीबाबू ! ऐसा कौनसा अपराध मुझ से बन पड़ा है जो इतना बड़ा अपमान करके आप चले जा रहे हैं ।”

“ऐसी तो कोई बात नहीं है ।”

“तो बिना खाये-पिये”

“खाने-पीने का आग्रह मत करो लिली ! मैंने कहा न अभी तुम कुछ भी नहीं समझती ।”

“अच्छा, तो चलिये मैं आपको छोड़ आती हूँ ।”

“नहीं लिली ! मैं चला जाऊँगा ।”—कहते-कहते वे चले गये । मैं वहीं खड़ी-खड़ी देख रही थी । मैं चाह रही थी—एक बार मुड़कर देख लें । एक बार—केवल एक बार—किन्तु वे

मुड़े नहीं। द्रुत गति से पैर उठाते चले गये।

पता नहीं मैं वहाँ कितनी देर तक खड़ी रहती किन्तु बादलों की गड़गड़ाहट से मैं चौंक-सी पड़ी। सड़क पर बिजली का प्रकाश था और चारों ओर था काला अंधकार ! निविड अंधकार !! उस अंधकार को चीरकर कभी-कभी आकाश में बिजली चमक उठती थी।

मैंने पिताजी का कंठ-स्वर सुना—

“लिली !”

“आई पिताजी !” —कहती हुई मैं कोठी में चली गयी।

पिताजी कुछ खाने का आग्रह कर रहे थे और मैं जीवन में पहली बार पिताजी के प्रति मन में उत्पन्न हुई उस घृणा एवं रोष के मारे जली जा रही थी किन्तु शिष्टता के कारण मंत्रवत् छुरी-काँटा और चमच के सहारे कुछ-न-कुछ गले से नीचे उतारे जा रही थी।

डाइनिंग हॉल में खनकती वे छुरियाँ और काँटे ऐसे लग रहे थे जैसे उन भोज्य-पदार्थों पर न चलकर मेरे अंग-अंग को काट रहे हों, कोंच रहे हों।

जो चाह रहा था कि सामने पड़ी उन प्लेटों को उठा-उठा कर धरती पर पटक दूँ। वह सारा सामान, जिसका एक कण भी बिना खाये सुधीबाबू चले गये थे सो उस सब को पैरों-तले रोंद डालूँ ! बिखेर दूँ !!

तभी पिताजी धीरे से बोले—“चला गया वह ?”

“जी !”

“क्या कहता था ?”

“पीठ-पीछे वह कम बोलते हैं जो कुछ कहना होता है ? वह सामने ही कहते हैं।”

“हूँ !” कहकर चुपचाप पिताजी काँटे से छेद-छेद कर पकौड़े

खाने लगे ।

उस दिन खाने-पीने के बाद ऊषा का नृत्य हुआ । पिताजी ने सितार बजाया । मुझ से भी एक गीत गाने के लिए कहा गया—अति आग्रह किया गया—किन्तु मैं किसी भी प्रकार प्यानो तक न जा सकी । इस बात को लेकर भय्या ने बहुत बुरा माना था ।

समारोह समाप्त हुआ और धीरे-धीरे सभी अतिथि चले गये । रात के लगभग ग्यारह बज चुके थे । मैं अपने कमरे की ओर जा रही थी—तभी नौकर ने आकर कहा—

“बीबीजी ! सोने से पहले बड़े बाबू से मिल लीजिये ।”—
कहकर वह चला गया ।

मैं वहीं पिताजी के शयनागार में जाकर सोने से पूर्व उनसे मिलने न मिलने के सम्बन्ध में कुछ देर खड़ी-खड़ी निर्णय करती रही, फिर पता नहीं कैसे पैर पिताजी के कमरे की ओर बढ़ गये ।

पिताजी चारपाई पर लेटे छत की ओर चुपचाप देख रहे थे । मैं उनके सिरहाने की ओर पड़ी एक कुर्सी खींचकर बैठ गयी ।

कुछ देर हम दोनों चुप बैठे रहे । तभी पिताजी ने बिना कुछ कहे मेरा हाथ खींचकर अपने हाथों में ले लिया । कुछ देर तक वे मेरा हाथ बार-बार दबाते रहे फिर रुँधे कण्ठ से बोले—

“लिली !”

“जी !”

“आज तू ने बहुत बुरा माना होगा ?”

“बुरा क्यों मानूँगी ?”

“बुरा मानने की बात ही थी ।”

“और यह जानकर भी आपने एक शब्द भी उनसे नहीं कहा । आप जानते भी थे कि वे मेरे अतिथि थे ।”

“बेटी ! वही सब कुछ बताने के लिए ही तो मैंने तुम्हें बुला भेजा था ।”

“फिर बताइये न ! क्यों किया गया मुझ पर ऐसा अविश्वास ?”

“बेटी ! तू मुझे अच्छी तरह पहिचानती है । मैं जब अपरिचितों पर ही अविश्वास नहीं कर पाता तो, फिर अपनी बेटी पर ही ऐसा क्यों कर सकूँगा ?”

फिर एक गहरी साँस लेकर बोले—

“पिछले दिनों कुछ लोगों ने तुम्हारे बारे में बहुत कुछ कहा-सुना है, किन्तु मैंने कभी उधर ध्यान नहीं दिया। आज सोचता हूँ मुझे तत्काल ही बात कर लेनी चाहिए थी।

“किस सम्बन्ध में ?”

“यही कि इस प्रकार उस कम्युनिस्ट के यहाँ तुम्हारा आना-जाना क्या ठीक है ?”

“किसने कहा कि वह कम्युनिस्ट है और फिर कम्युनिस्ट होना क्या बुरी बात है ?”

“हाँ बेटी ! कम्युनिस्ट के लिए मैं दूसरी संज्ञा दे सकता हूँ।”

“क्या ?”

“अनैतिकवादी !”

“पिताजी !”

“कुछ कहना चाहती हो ?”

“मैं कहना चाहती हूँ कि यदि ओषधियाँ के अभाव में मरने वाले नर-नारियों को बिना अपने प्राणों का मोह किये मृत्यु के मुँह से खींच लाना, देश की गरीबी का मूल कारण पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़कर फेंक देने का संकल्प ही अनैतिकवाद है तो वह अवश्य ही अनैतिकवादी हैं !” कहते-कहते मैं हाँफने लगी।

“सो मैं नहीं कहता बेटी किन्तु ऊँचे को काटकर नीचे के समतुल्य कर देना कहाँ का न्याय है ?”

“समझी नहीं।”

“कम्युनिस्ट कहते हैं कि राष्ट्र के सभी नागरिकों के पास बराबर पूँजी होनी चाहिए—यदि कोई बड़ा है तो क्या उसे मिटाकर छोटे की पंक्ति में बिठा देना होगा ? इसको वे साम्य-वाद की संज्ञा देते हैं।”

“इस सम्बन्ध में सुधीबाबू के अपने विचार क्या-कैसे हैं, सो मैं नहीं जानती। व्यक्ति की दृष्टि से मैं उन्हें भली भाँति पहिचानती हूँ।”

“क्या पहिचानती हो बेटी ! ज़रा इस बूढ़े को नहीं सुनाओगी ?”

“पिताजी ! पता नहीं किस पुस्तक में हिन्दू फिलॉसफी सम्बन्धी कुछ सूत्र पढ़े थे। उसके अनुसार ‘मानापमान’ एवं ‘मेरा-तेरा’ की स्थिति से उठकर समदृष्टि के भाव को ग्रहण कर पाना साधना एवं आध्यात्मिक दृष्टि से मानव की बहुत ऊँची स्थिति मानी गयी है !”

“तुमने यह कब और कहाँ पढ़ा है ?”

“पढ़ा तो किसी हिन्दू दर्शन की पुस्तक में था किन्तु समझा सुधीबाबू से है।”

“क्या हिन्दू दर्शन को वह समझता है ?”

“समझते ही नहीं पिताजी, उस विषय पर अधिकारपूर्वक लिखते भी हैं।”

“अच्छा, उस बात को जाने दो। यह बताओ कि सामाजिक नियम, सीमा-मर्यादा, इन सब को तोड़-फोड़कर कोई समाज में टिक कैसे सकता है बेटी ? टिक सका है कोई आज तक और या भविष्य में भी कैसे कोई टिक सकेगा ?”

“पिताजी ! समाज के नियम मानव के विकास के लिए हैं। जब वे सामाजिक नियम उसके विकास में बाधक बनकर सामने आने लगें तो उन्हें रौंदते हुए आगे बढ़ जाना ही मैं ठीक समझती हूँ।”

‘हूँ’ कहकर वे चुप हो गये और फिर मेरी ओर देखते-देखते बांश—

“सुनकर तुम्हें दुख होगा बेटी, फिर भी वह सुना देना ही

तुम्हारे लिए मङ्गलकारी होगा। सुना है सुधीबाबू ने दो बार शादी की थी—और दोनों को छोड़ दिया है। चरित्र का भी वह अच्छा नहीं है, ऐसा एक ने नहीं अनेकों परिचितों ने मुझ से कहा है; सो यह सब देखकर ही हमें चलना होगा।”

“पिताजी! मुझे स्पष्ट बताइये, मुझे क्या-कुछ करने के लिए आप कह रहे हैं?” सुनकर कुछ देर वे चुप रहे फिर मुझे अति निकट खींचकर बोले—

“पता नहीं, क्यों वह आदमी मुझे अच्छा नहीं लगता? कैसी-कैसी बातें आजकल के अखबारों में निकलती हैं। पढ़ते-पढ़ते कभी-कभी सोचने लगता हूँ कि यदि यही सब मेरे साथ भी घटित हुआ तब क्या... ..” कहते-कहते उनका कंठ रुँध आया। फिर दूसरी ओर मुँह घुमाकर अपने आँसू पोंछ डाले।

तभी बोले—“बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जो पुस्तकों में पढ़कर नहीं समझी जाती। वैसी बातें समझदार माँ-बाप ही अपनी-अपनी सन्तान को समझा पाता है। फिर मेरे साथ इस जीवन में जो घटा है वह तो ऐसा है कि उससे तुम बहुत-कुछ सीख सकती हो।”

“मुझे तो कभी कुछ नहीं बताया आपने।”

“बताऊँगा, आज भी नहीं फिर कभी, किन्तु आज एक बात मानने के लिए तुम्हें वचन देना होगा बेटी!”

“बताइये।”

पिताजी ने मेरे दोनों हाथ अपने मोटे गर्म हाथों में दबाकर कहा—“यही कि कल से तुम सुधीबाबू से नहीं मिलोगी।”

“पिताजी!” सन्निपात के रोगी की भाँति मैं चीख पड़ी और बिना कुछ कहे-सुने अपने कमरे में भाग आयी।

उस रात आकाश में उमड़-धुमड़कर बादल गड़गड़ा उठते थे और कभी-कभी उस घने अंधकार को चीरती बिजली

चमक उठती थी ।

मैं अपने कमरे में लेटी प्रकृति के उस तूफ़ान को देख रही थी । लगता था जैसे प्रकृति का वह समस्त गर्जन-तर्जन मेरे हृदयाकाश ही में कहीं पुंजीभूत हो उठा है ।

कभी सोचती—मैं उन्हें गाड़ी में बिठाकर ही और पैदल ही चले गये । थोड़ी देर बाद ही पानी बरसा था... भीग गये होंगे । अब कभी उनसे मिल भी न सकूँगी ।

हे भगवान् ! अब क्या होगा ? कैसे सह पाये होंगे कल का अपमान ? भोजन का निमंत्रण था और बिना कुछ खाये-पिये ही चले गये..... अब ?

सोचते-सोचते पता नहीं कब मैं सो गयी, जब जागी तब चारों ओर धूप फैल गयी थी । रात में जो वर्षा हुई थी उसी की सोंधी-सोंधी सुगन्धि आ रही थी । मैं अलस-सी चुपचाप बिस्तर पर लेटी थी ।

लेटे-लेटे सोचने लगी—तो क्या अब मैं कभी सुधीबाबू से न मिल सकूँगी ? जो सब लड़कियों के साथ होता है वही मेरे साथ होगा ? चारों ओर सीमायें बाँधी जायेंगी । रेखायें खींची जायेंगी और यदि उन्हें तोड़ने का प्रयत्न किया तो विवाह की लौह-शृङ्खला में बाँधकर समूचे जीवन के चारों ओर अभेद्य प्राचीरों बना दी जायेंगी ?

क्या मैं भी इन रेखाओं और सीमाओं के सामने सिर झुका दूँ ? मान लूँ हार ? जलती रहूँ जीवन भर पराजय की ज्वाला में ? तपती रहूँ उन अभेद्य प्राचीरों में ? बहाती रहूँ जीवन-पर्यन्त आँसुओं के प्रपात ?

क्या इसीलिए लड़कियाँ जन्मती हैं ? पढ़ती हैं, लिखती हैं ? मात्र उन पाषाण-प्राचीरों से सिर पटक-पटककर मर जाने के लिए ? सीमायें—रेखायें—पाषाण-प्राचीरें—आँसुओं के

प्रपात ! यही है लड़की के जीवन की कहानी ?

तभी किसी ने किवाड खोले । सामने पिताजी खड़े थे । मैं घबराती-सी उठ बैठी । वे धीरे-धीरे मेरे पास आये और चुपचाप बैठ गये । उनकी आँखें कुछ सूजी और आरक्त थीं । लगता था जैसे वे रात भर सो नहीं पाये हैं ।

हम दोनों मसनद के सहारे बैठे थे । पिताजी ने मेरा हाथ अपने हाथों में लेकर कहा—“लिली ! मेरे अनुरोध से तुम्हें बहुत चोट लगी होगी ?”

“चोट क्यों लगती, आप ही तो कहते थे कि बहुत सी ऐसी बातें भी होती हैं जो पुस्तकें पढ़कर नहीं समझी जा सकतीं । वैसी बातें हर समझदार माँ-बाप ही अपनी सन्तान को समझा पाता है ।”

“हाँ, यही बात तो एक बार फिर कहने आया था । लिली आजकल समाज में एक नये वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ है । उस वर्ग को अंग्रेजी में Girl-hunter कहते हैं । मेरा कर्तव्य है कि मैं तुम्हें उस वर्ग की गतिविधि से अवगत करा दूँ ।

“इस वर्ग द्वारा दिन-रात न जाने कितनी लड़कियों का शिकार किया जाता है । न जाने कितनी लड़कियों का शिकार खेला जा चुका है और न जाने शिकारियों द्वारा कितनी मसली जाकर भविष्य के गर्त में फँक दी जायेंगी ।”

पिताजी कहे जा रहे थे और मैं पिताजी के चेहरे पर खिंची वात्सल्य की बनती-मिटती रेखायें देख रही थी ।

मेरी ओर पहिले चुपचाप कुछ देर देखते रहे फिर धीरे से बोले—“बेटी ! शिक्षा का उद्देश्य केवल परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर लेना मैं नहीं समझता । शिक्षा का उद्देश्य मैं मानता हूँ जीवन में सजग होकर पग बढ़ाना, सत् की उपासना और असत् से मुक्ति—‘सा विद्या या विमुक्तये ।’

“बेटी ! मैं देख रहा हूँ आज की लड़की सत् मणि-माणिक्य छोड़कर असत् के कंकड-पत्थरों का ही संग्रह किये जा रही है । सत् के प्रकाश से ही दूर असत् के अंधकार में खोती चली जा रही है ।

“मैं चाहता हूँ बेटी, तुम सत्-असत् को पहचान सको । तुम्हारे चारों ओर विधि-निषेध की सीमायें खींचकर मैं तुम्हें दुखी नहीं करना चाहती किन्तु यह अवश्य चाहता हूँ कि उस शिकारी वर्ग को पहचान सकने की दृष्टि तुम्हें अवश्य मिल जाये । लड़की का हर बाप अपना उस परम पुनीत विराट् की धरोहर कन्या के सम्बन्ध में मंगल-कामना कर सकता है ।”

कहते-कहते जिस प्रकार का चेहरा उनका बन गया था वह मैं आज तक नहीं भूल सकी हूँ ।

कुछ देर वे चुप बैठे रहे, फिर बोले—“लिली !” कहते-कहते उनका कंठ रुंध-सा गया फिर वे किसी प्रकार भी न बोल सके ।

“पिताजी ! क्या हुआ है आपको ? आप यह सब बातें मुझे क्यों बता रहे हैं ? क्या आज तक कभी कोई ऐसी बात आपने देखी है जिसके सहारे आप सन्देह का ताना-बाना बुनते जा रहे हैं ?”

“बेटी ! मुझे वैसा हीन समझने की गलती न करो ।”

“फिर क्या हुआ है आपको ?”

“लिली ! युवक-युवतियों के प्रेम की कहानियाँ, घर छोड़कर भागना, फिर विवाह विच्छेद, आत्म-हत्या—यह रोज ही हम अखबारों में पढ़ते हैं और भूल जाते हैं, किन्तु कल जो कुछ मैंने जाना है वह मुलाये नहीं भूलता और पता नहीं कैसे उस दुर्घटना को मैंने अपने अन्तर्मन में जोड़ लिया है तुम से ।

“नहीं जानता कि अपने मन के सम्बन्ध में किया गया मेरा

यह विश्लेषण कहाँ तक सत्य है ? किन्तु इतना मैं जानता हूँ कि वह दुर्घटना इस प्रकार मेरे चारों ओर छा-सी गयी है कि पिछली रात में एक पल के लिए भी न सो सका।”

कहते-कहते जिस प्रकार वे शून्य दृष्टि से खिड़की की ओर देखने लगे सो मुझे अति दयनीय लगा था।

मैं बोली—“पिताजी ! क्या थी वह दुर्घटना मुझे भी तो बताइये।”

तभी रामू नाश्ते का सामान लेकर आया। पिताजी को बहुत आग्रह के बाद एक कप प्याला पीने के लिए मना सकी।

पिताजी प्याले को ओंठों से लगाकर जाने क्या उस मट-मैली चाय में देखने लगे। फिर ‘ऊँहूँ’ मैं नहीं पी सकूँगा लिली तू ही पीले।” कहकर उन्होंने प्याला मेज पर रख दिया।

मैं बोली—“अच्छा न पीजिये पर वह दुर्घटना क्या हुई है सो बतलाइये !”

पिताजी ने अपनी जेब से एक बड़ा लिफाफा निकाला और बोले—“इसे पढ़ तो।” मैंने प्याले की शेष चाय को एक गहरे घूँट में भरकर पी लिया और उस पत्र को पढ़ने लगी।

पत्र काश्मीर के एक स्थान पहलगॉव से लिखा गया था। काफी बड़ा पत्र था सो मैं जल्दी से पढ़ने लगी—

वन्दनीय बाबा !

नियति ने बचपन से ही पिता का प्यार और माँ का दुलार मुझ में छीन लिया था किन्तु आपकी स्नेह-भरी उस गोद में बैठकर मैंने कभी यह अनुभव नहीं किया कि मेरे माँ-बाप नहीं हैं।

आज इन क्षणों में मैं मृत्यु के अति निकट बैठी हूँ। अब मुझे याद आ रहा है अपना बचपन। आपको याद होगा, दिवाली का दिन था। आप मेरे लिए शक्कर के हाथी-घोड़े और चावल

की खिलें लाये थे। आँगन में चौक पूरा था, आप लक्ष्मी की पूजा कर रहे थे।

तभी शक्कर के उस हाथी को देखकर मुझे हाथी पर बैठ कर घूमने की उमंग आयी और आपके कंधे हिला-हिलाकर हाथी पर बैठने के लिए मचल पड़ी थी। उस समय पड़ोसिन काकी भी बैठी लक्ष्मी-पूजन देख रही थी।

मुझे लक्ष्मी-पूजन के समय हाथी के लिए रोते-मचलते देख वे भुँफला उठी थीं और मैं धरती पर गिरकर सारे आँगन में लोटने लगी थी। और तब आपने लक्ष्मी-पूजन अधूरा छोड़ कर मुझे गोदी में उठाकर उनसे कहा था—“बिन्नू की माँ ! लक्ष्मी और अपनी इस नन्हीं राजलक्ष्मी में मैं कोई अन्तर नहीं देखता।

दोनों ही एक हैं, यदि लक्ष्मी साक्षात् सदेह प्रगट हो सकती तो वे भी यही कहतीं कि—‘मेरे पूजन से अधिक मूल्यवान उस नन्हीं-सी राजलक्ष्मी के आँसू हैं !’

सुनकर काकी दोनों हाथों की चूड़ियाँ खनखनाती ताली पीटती-सी बोली थी—“इतना लाड़-प्यार भी अच्छा नहीं होता बच्चे के साथ—फिर लड़की की जात—क्यों काँटे बो रहे हो बेचारी की ज़िन्दगी में ? मैं कहे देती हूँ—एक दिन सिर पीट कर रोओगे ! फिर कहाँ से लाओगे हाथा इसे बिठाने के लिए ?”

बाबा ! तब मैं छ वर्ष की रही हूँगी किन्तु जो उत्तर आपने दिया था—सो ज्यों का त्यों मुझे आज भी याद है ! आपने कहा था—“बिन्नू की माँ ! मैं अपनी बेटी के लिए हाथी नहीं खरीद सकता तो क्या हुआ, स्वयं हाथी बनकर उसका मन तो बहला सकता हूँ।”

तब आपने सोचा होगा यह छः वर्ष की नन्हीं लड़की क्या समझे इस बात को, किन्तु मैं वह बात—आपके उस सहज स्नेह

को—कभी न भूल पायी ।

तब पीठ पर एक गद्दा रखकर आप हाथी बने थे । कान के पास हाथ से दो पंखे पकड़कर हाथी के कान बनाए थे । मैंने पीठ पर बैठकर हाथी की सवारी का आनन्द लिया था ।

घर का कील-काँटा बेचकर सारे मकान, ज़मीन गिरवी रखकर मुझे लिखाया-पढ़ाया, फिर कितने उदाहरणों, दृष्टान्तों एवं अपने जीवन में घटी घटनाओं को सुना-सुना कर जीवन-पथ पर सजग होने के लिए परोक्ष-अपरोक्ष रूप में समझाया-बुझाया किन्तु जाने कैसी आँधी में सब कुछ उड़ गया ।

स्नेह की उन सीमाओं को जो आपने मेरी मंगल-कामना करके खींची थी, मैंने उन सब को पैरों से रौंद डाला ।

उस दिन संध्या के समय छत पर बैठकर आपने Girl-hunter युवकों के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें समझाई थीं किन्तु तब मैंने समझा कि बड़े-बूढ़ों को समझाने एवं उपदेश देने की बीमारी होती ही है, किन्तु अब सब कुछ मेरा मिट चुका है । अब समझ पा रही हूँ उन सत्यों को जिन्हें आप जीवन भर समझाते रहे पर मैं समझ न सकी ।

राखाल बाबू से न मिलने-जुलने के लिए आपने कहा था पर मैं नहीं मानी । मेरा सम्बन्ध बढ़ता गया । कैसा था वह उन्माद !

मैं सब कुछ भूल कर उन्हीं के पीछे भागी जा रही थी । उस दिन आप मलेरिया ज्वर में 'पान ! पानी ! !' पुकार रहे थे और मैं पहले से निश्चित समय पर उनसे मिलने के लिए विक्षिप्ता सी दौड़ी गयी थी ।

वर्षों के उस वात्सल्य को छोड़कर राखाल बाबू के प्रति उमड़ते प्रेम की उस मरीचिका के पीछे दौड़ने लगी ।

आज मरीचिका के पीछे दौड़ने वाली मृगी की भाँति जीवन के इस दहकते रेगिस्तान में पड़ी सिसक रही हूँ । मृत्यु-यंत्रणः

से छटपटा रही हूँ ।

डाक्टर साहब कहते हैं कि उन्होंने आपको बुलाने के लिए तार दिया है, किन्तु मैं जानती जब तक आप आर्येंगे तब तक मैं इस दुनिया से बहुत दूर जा पहुँचूँगी—जो जीवन चाहता ही नहीं उसे जीवन दे कौन सकता है ?

राखाल बाबू ने जीवन के जो रंगीन सपने मुझे दिखाये थे उन्हीं की झिलमिल में स्वप्नाविष्ट-सी हो मैं उनके साथ आप से बिना कहे सुने यहाँ काश्मीर चली आयी थी ।

मैं जानती थी कि आप राखाल बाबू को पसन्द नहीं करते और मैंने समुचे मन से अपने जीवन की डोर उन्हीं के हाथों में थमा दी थी ।

जो रुपया आपकी तिजोरी से चुराकर लाई थी वह जब होटल और क्लब की इस दुनिया में नष्ट हो गया तब वे बात-बात पर मुझे झिड़कने लगे ।

बाबा ! लिखते मेरी कलम रुकती है । एक दिन उन्होंने होटल के मैनेजर से मिलकर मुझे एक कमरे में बन्द किया । हाथ-पैर बाँधकर मेरे मुँह में शराब डाली ।

उसी अवस्था में उन्होंने कुछ सौ रुपयों में मेरा शरीर दिल्ली के एक यात्री सेठ के हाथ बेच दिया । नहीं जानती उसके बाद एक रात में ही मेरा यह शरीर उस होटल के कितने यात्रियों के हाथ बेचा गया होगा ।

शराब के नशे में, हल्का-हल्का मुझे याद है कि उनमें कई सफेद-पोश अहिंसा के पुजारी थे, एक चंदनधारी किसान तीर्थ का पंडा था, दो काली दाढ़ी वाले सिख थे और उस हव्शी सेठ ने अपने मोटे लटकते होठों से जिस तरह मेरे आँठ-गाल चाटे थे सो याद करके मेरा रोम-रोम घृणा से भर उठता है ।

जब मुझे होश आया तब मेरा अङ्ग-अङ्ग दुख रहा था ।

न जाने कितने नर-पिशाचों ने आपकी इस दुलारी बिटिया के अङ्गों को नोचा होगा, खरोंचा होगा ।

वही राखाल बाबू जो भारतीय संस्कृति और मानवता पर बोलते थकते नहीं थे, जो एक दिन शिष्टता और सभ्यता के प्रतिरूप लगते थे वही शराब की वदबू छोड़ते मेरे पास आ बैठे और बोले—लक्ष्मी ! तुमने मेरी बात नहीं मानी, इसीलिए यह सब सहना पड़ा ।

तुम जब मुझ से प्रेम करने का दावा करती हो, मेरे लिए प्राण तक दे देने की बात करती हो तो घंटे दो घंटे के लिए अपना यह शरीर मेरे लिए नहीं बेच सकती ?”

फिर मेरे गाल थपथपाते कंठ में स्नेह भरकर बोले—मान जाओ लक्ष्मी ! मेरी अच्छी लक्ष्मी !!

बाबा ! उस पापाचारी नराधम की बातें सन-सुनकर मुझे लग रहा था जैसे कोई गरम खौलता तेल मेरे कानों में उँढ़ेले जा रहा है ।

बाबा ! आप आश्चर्य करेंगे कि रात भर तोड़ी खरोंची गयी आपकी इस बिटिया में कहाँ से ऐसी अतुल शक्ति आगयी कि घायल शेरनी की तरह लेटे-लेटे ही मैंने समूची शक्ति से उस नारकीय प्राणी की गर्दन पकड़ ली । मेरी बे पतली अँगुलियाँ स्पात की भाँति कड़ी होती गयीं ।

उस पशु ने छटपटाते-छटपटाते मेरो नाक-मुँह पर कई मुक्के मारे, किन्तु मेरी अँगुलियों की वह जकड़ कड़ी होती गयी और तब तक मैंने उसे नहीं छोड़ा जब तक वह बेहोश होकर एक ओर गिर नहीं पड़ा । उसकी जीभ बाहर निकल आयी थी किन्तु शरीर में प्राण शेष थे ।

पुनः जीवित न हो उठे इसलिए चारपाई खींचकर उसका पाया ठीक उसकी गर्दन पर रखा । उस पाये को दबा-दबाकर

मैंने उसकी गर्दन तोड़ डाली। उसे खून की एक उल्टी-सी हुई और शान्त हो गया।

अपने हत्यारे की हत्या करके एक प्रकार की तुष्टि का अनुभव कर रही हूँ। उसके बाद मैंने स्वयं भी विष खा लिया। किन्तु मात्रा कम होने के कारण डाक्टर और पुलिस ने मुझे बचा लिया है, किन्तु जो जीवित ही नहीं रहना चाहता उसे बचा कौन सकता है, सो आज मैंने तीक्ष्ण विष का प्रबन्ध कर लिया है। मेरा यह जीवन कुछ ही क्षणों में नष्ट हो जायगा।

बाबा ! मृत्यु से पूर्व इतना लम्बा पत्र लिखने का मेरा एक उद्देश्य है। मैं चाहती हूँ कि लाख समझाने-बुझाने पर भी जिम प्रकार अन्धी होकर मैंने ठोकर खायी है उस प्रकार मेरी-जैसी, मेरी प्रवृत्ति, मेरी अवस्था वाली दूसरी बहिनें मेरी इस कहानी से कुछ सीख पायें।

यदि आप मेरे इस पूरे पत्र को किसी समाचार पत्र में प्रकाशित करा सकें तो मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी। यही विश्वास लिये मैं इस पत्र को लिखे जा रही हूँ।

सत्य के अन्वेषण में जाने कितने विज्ञानियों-अन्वेषकों ने अपने प्राण दे दिये हैं। इतनी व्यथा, वेदना के बाद जो जीवन का सत्य मैंने पाया है यदि उस सत्य को अन्य बहिनें भी जान सकें, ग्रहण कर सकें तो अवश्य ही मैं अपने जीवन को कृत्कृत्य मानूँगी। बाबा ! अब मृत्यु से पूर्व दो अन्तिम शब्द आपके लिए लिखूँगी।

जीवन में जितना कष्ट मैंने आपको दिया उतना कभी किसी लड़को ने अपने बाबा को नहीं दिया होगा। यह दुख इस लिए और बढ़ जाता है कि आपके इस अपरिसीम स्नेह एवं ममता का प्रतिकार किया मैंने आपको धोखा देकर—आपकी अवशेष पूँजी को चुराकर।

कितना कष्ट पहुँचा होगा आपके उस अति भावुक हृदय को—क्या करूँ ?

मैं अन्धी हो गयी थी बाबा ! जीवन भर आप मेरे दुराग्रहों-जिदों को पूरा करते आये हैं । क्या यह अन्तिम जिद भी पूरी न करेंगे ?

मेरे इस पत्र को अवश्य समाचारपत्रों में प्रकाशित करा देना और दूसरी जिद यह कि आप अपने समस्त मन से मुझे क्षमा कर देना । कर सकेंगे बाबा ? आपकी अति ममतामयी बिटिया का अन्तिम प्रणाम !

—राजलक्ष्मी

पत्र पढ़ते-पढ़ते कई बार मैंने अपने उमड़ते आँसुओं को रोकना चाहा पर रोक न सकी। पिताजी जान-बूझ कर दूसरी ओर देख रहे थे। पत्र समाप्त करके मैं चुपचाप वहाँ से उठकर चली आयी।

जब लौटी तब अति आर्द्र कंठ से मेरा हाथ दबाते हुए बोले—“बेटी ! इसीलिए मैंने कल सुधीबाबू से न मिलने के लिए कहा था। वैसे तुम स्वयं ही शिक्षित हो, समझदार हो जैसा ठीक समझो वैसा ही करो।

“मेरी मनोदशा इस पत्र को पढ़कर विचित्र-सी हो गयी है। हो सकता है कि मैं सुधीबाबू को इस पत्र के राखाल बाबू के दृष्टिकोण से ही देख रहा होऊँ।

“यही विचार आते ही मैं उठकर चला आया था। मैं तुम्हें वहाँ जाने से रोकता नहीं किन्तु बेटी …..”

कहते-कहते उनका गला भर आया। फिर वे कैसे भी अपनी अधूरी बात पूरी न कर सके।

मैंने पिताजी की वे भारी गर्म हथेलियाँ अपने बड़े गालों से चिपटाकर कहा—

“पिताजी ! आप निश्चिन्त रहें। आपकी इस बेटी से ऐसी गलती कभी न होगी।” कहकर मैं मुग्ध आँखों से पिताजी की ओर देखने लगी। पिताजी ने अपनी हथेलियाँ खींचकर मेरा सिर थपथपाते हुए कहा—

“बस, यही चाहता हूँ बेटी ! अब शरीर थकता जा रहा है कुछ ओर भी ऐसी बातें अच्छा जाने दो फिर कभी बताऊँगा।”

“नहीं पिता जी ! अभी बताइए और क्या है ?”

“बेटी ! अभी बता नहीं सकूँगा । बता सकता तो अवश्य ही बता देता ।”

“तो फिर कब ?”

“समय आने पर तो बताना ही है । हाँ बेटी ! एक बात मुझे और कहनी थी । यह अजीत और ऊषा का अधिक मिलना-जुलना मुझे अच्छा नहीं लगता किन्तु उन लोगों से कुछ कहा भी नहीं जाता ।

असल में मैं इस प्रकार की स्वतन्त्रता देने का सदा से ही पक्षपाती रहा हूँ, किन्तु इन पिछले कुछ वर्षों से न जाने क्यों इस सम्बन्ध में मैं अपना विचार बदलता जा रहा हूँ । सो न हो तो तुम्हीं ऊषा से कह देखना । तुम्हारी वह सहेली भी है ।

“आज कमर में दर्द है । ज़रा राधू से कहना मीठे तेल में अफीम भूनकर पीठ से लगा दे ।” कहते-कहते पिताजी जाने लगे, फिर मुड़कर बोले—“अच्छा, इतना तो जान ही लो कि राज-लक्ष्मी तेरी चचेरी बहिन थी । उसका पत्र पाकर तेरे बाबा काश्मीर चले गये हैं । आज सूचना मिल जायगी कि वह बची या नहीं । अच्छा चलता हूँ ।” कहकर वे चले गये ।

मैं स्तब्ध-सी विछौने पर लेट गयी । बार-बार उस पत्र में लिखी घटना सजीव हो-हो सामने आने लगी । शराब..... हाथ-पैर बाँधे गये..... शरीर-विक्रय..... गर्दन तोड़ी गयी..... आत्म-हत्या ! बेचारी राजलक्ष्मी—और यह बाबा कौन है ? कहाँ रहते हैं ? यहाँ कभी क्यों नहीं आये ? सोचते-सोचते मन सुधी बाबू से मिलने के लिए तड़प उठा ।

सोचने लगी, जाने से पिताजी के मन को चोट तो नहीं लगेगी ? रोका तो नहीं है । किन्तु जाने से खुश भी न होंगे । क्या करूँ ?

दोपहर को पिताजी खा-पीकर सो गये थे । मैं धीरे-धीरे उनके कमरे में गयी । वे दोनों हाथ जोड़े कुछ बड़बड़ाते-से छत की ओर देख रहे थे । किवाड़ खुलने की आहट सुनकर मेरी ओर देखते-देखते बोले—“आओ बेटी ! कहीं जा रही हो ?”

“हाँ पिताजी !”

“कहाँ ? कब तक लौटोगी ?”

“सुधीबाबू के पास, जल्दी ही लौट आऊँगी ।”

“अच्छा, जल्दी लौटना, आज मेरा मन नहीं लग रहा है । हो सके तो सुधीबाबू को भी साथ लेती आना । ज़रा मैं भी तो उसे पहिचानूँ ।”

“यदि आये तो अवश्य ले आऊँगी । राधू ने तेल की मालिश कर दी थी पिता जी ?”

“हाँ बेटी ! कर गया था । थोड़ी और हो जाती तो……”

“अच्छा, मैं अभी भेजती हूँ । डाक्टर सेन को बुलवा लूँ ?”

“तू लौट आ, फिर कुछ सोच लेंगे ।”

“अच्छा ।” कहकर मैं कमरे से बाहर चली आयी ।

मैंने गाड़ी के साथ ड्राइवर नहीं लिया, स्वयं ही डाइव करती सुधीबाबू के यहाँ जा पहुँची । गाड़ी सड़क के एक किनारे खड़ी करके कमरे के सामने चुपचाप खड़ी हो गयी । किवाड़ अन्दर से बन्द थे ।

मैं खड़ी-खड़ी सोचने लगी—सुधीबाबू ने दो शादियाँ की हैं । चरित्र अच्छा नहीं है ! शादी ! चरित्र ! पर मैंने तो अब तक ऐसा कुछ नहीं देखा ।

आज पूछूँगी !—सोचते-सोचते मैंने किवाड़ थपथपाये । किवाड़ खुले और जो कुछ उस कमरे में देखा उसे देखते ही

मारे अचरज के मैं हतबुद्धि-सी खड़ी-की-खड़ी रह गयी ।

सुधीबाबू की उस चटाई पर एक अति सुन्दर चार-पाँच वर्ष का बालक लेटा था । साँवला रंग, गुलाब की पँखुड़ी-जैसे पलक बन्द थे । बालक गहरी नींद में सो रहा था ।

देखकर मैं अवाक्-सी सुधीबाबू को देखती-देखती सोचने लगी—तो क्या पिताजी ही ठीक कहते थे ? कौन है यह बालक ?

तभी सुधीबाबू ने कहा—“आइये ! बैठिये ! लगता है आप भी मेरी बिरुदावली सुन चुकी हैं ।”

मैंने बैठते-बैठते कहा—“क्या मतलब ?”

“यही कि मैं कितना चरित्रहीन व्यक्ति हूँ ।”

“हाँ, थोड़ा-थोड़ा सुना है । और वही सुनने चली आयी हूँ । सोचा आपके मुँह से सुनना ही ठीक रहेगा ।”

“इस धरती पर अपने मुँह से अपनी ही बुराई की है आज तक किसी ने ?”

“और चाहे किसी ने की हो या नहीं पर आप अवश्य कर सकते हैं—यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ ।”

“इतना विश्वास है आपको मुझ पर ?”

“इससे भी अधिक ।”

“तब तो सुनाना ही पड़ेगा ।”

“तो सुनाइये !”

“आप यहाँ कितनी देर के लिए आयी हैं ?”

“पिताजी की कमर में दर्द है सो जल्दी ही लौट जाऊँगी ।”

“अच्छा, थोड़ी देर ठहर जाइये । इस बच्चे को देखती रहिये, मैं एक हैजे के बीमार को देखकर अभी लौटता हूँ ।”

“गाड़ी लेते जाइये पर ड्राइवर नहीं है ।”

“चाबी दे दीजिये, मैं स्वयं ड्राइव कर लूँगा ।”

“आप जानते हैं ?”

“हाँ, काम निकाल लूँगा।”

मैंने बटुए से चाबा निकालकर दे दी।

सुधीबाबू चले गये। मैं पहिले उस सोते बालक को अपलक नयनों से देखती रही। उस चेहरे में बहुत कुछ सुधीबाबू के चेहरे से मिलता-जुलता था।

सोचने लगी—तो क्या यह सुधीबाबू का ही बच्चा है ? क्या सचमुच ही इन्होंने शादी की थी। फिर वह कविता ? एकाकी कुसुम ! सब असत्य था ? और मेरा वह रंगीन स्वप्न ? सब कुछ टूट गया। सब कुछ ?

तभी मुझे ध्यान आया सुधीबाबू की उस डायरी का। मैं भपटकर उस टूटी मेज़ की ओर गयी। वह कापी खुली हुई रक्खी थी।

लगता था कुछ लिखने के लिए उसे खोला था। केवल एक वाक्य—“आज एक नई समस्या सामने आयी है”—लिखकर छोड़ दिया था।

मैं उस डायरी का पिछला पृष्ठ खोलकर पढ़ने लगी। पिछले दिन ही तो वे मेरे घर पार्टी में गये थे।

मैं वह पृष्ठ खोलकर पढ़ने लगी—

मैंने उस लड़की का दो बार संगीत सुना है। उसके संगीत को सुनकर मुझे लगता है जैसे झुलसे अंगों पर चन्दन का लेप ! पकते फोड़े पर बर्फ की पट्टी !!

कुछ अन्दर-ही-अन्दर भर-सा उठता है। दिन-रात की भाग-दौड़, दुख-दैन्यता में उसके गीत की स्मृति-मात्र से मैं पुलकित हो उठता हूँ। और आज उसका एक नया परिचय मिला है।

इन पूजीवादियों को सबसे अधिक मोह होता है अपनी मान-मर्यादा का और यह कि उनके बारे में लोग क्या-कुछ

कहते हैं, किन्तु उस लड़की ने बिना इसकी चिन्ता किये कि मेरे साथ उस प्रकार के व्यवहार से सगे-सम्बन्धी तथा अन्य परिचित लोग क्या समझेंगे, क्या कहेंगे, उसने सभी की उपेक्षा करके अपने व्यवहार में किसी भी प्रकार की कृत्रिमता न आने दी ।

शहर के पूँजीवादियों के व्यवहार से लगा कि अब सभी मुझसे भली भाँति परिचित हो चुके हैं । अभी अजीत मुझे नहीं जानता । आज मजदूरों की सभा के बाद उसे भी मेरा परिचय मिल जायेगा ।

मैंने अच्छा नहीं किया । क्यों बिना खाये-पिये चला आया । कुछ खा-पी लेने के लिए उसने कितना आग्रह किया था । उसकी गाड़ी में न आकर पैदल क्यों आया ? क्यों उस भोली बालिका को दुखी किया ? इतना हीन मैं क्यों हो गया ? क्या कभी अपने प्रियजनों को दुख देने में भी तुष्टि का सुख होता है ?

उसके पिताजी मुझे अब तक नहीं जानते थे । इसीलिए वह यहाँ तक आ पायी थी । अब शायद उसे भी रोक दिया जायेगा । बेचारी भोली बालिका !

जब बिना खाये-पिये, उसकी गाड़ी में न आकर पैदल ही आने का मैंने निश्चय किया तब कैसी करुणा-भरी छलछलाती आँखों से उसने मुझे देखा था किन्तु उन सजल नयनों को देखकर मुझे लगा जैसे विश्व के एक सुन्दरतम चेहरे को मैंने पहिली बार देखा है । कैसा लगा था वह चेहरा ! वे सजल नेत्र !!

आज कविता फूटी पड़ रही है—

प्राणों की बन आई छाया ।

मेरा उर क्यों भर-भर आया ॥

उस दिन तुमने सजल नयन हो,

कितनी करुणा भरकर देखा ।

हँसने वाले उन अधरों पर,

खिंची रुदन की गहरी रेखा ॥

युग-युग के संचित पुण्यों का—

एक निमिष में रे फल पाया ।

प्राणों की वन आई छाया ॥ मेरा .. मेरा...

ऐसा भी कभी होता है ? जिसकी मिल के मजदूरों को अपना वेतन बढ़वाने के लिए मैं उकसा रहा हूँ उसकी लड़की मेरे खाने-न-खाने का इतना ध्यान रखती है । लगता है वह अभी वास्तविकता नहीं समझ पा रही है ।

कल सात बजे उसी लड़की की 'विजय मिल्स' के मजदूरों की सभा की जायेगी । वेतन न बढ़ाये जाने पर हड़ताल का नोटिस दिया जायेगा । क्या तब भी वह सजल नयन होकर खाने-पीने का आग्रह कर सकेगी ?

नींद आ रही है । कल के लिए भाषण भी तय्यार करना है । सोचता हूँ—

तभी सीढ़ियों से किसी के आने की पग-ध्वनि सुनायी पड़ी । मैंने उस डायरी को ज्यों-का-त्यों रख दिया, मैं चुपचाप अपने स्थान पर आ बैठी ।

सोचने लगी—‘कैसी हूँ मैं ? गाड़ी के आने की आवाज भी न सुन सकी और कहीं उस डायरी में इतना डूब जाती कि सीढ़ियों की पग-ध्वनि भी न सुन पाती तब ? हे राम ! डायरी पढ़ते देखकर क्या कहते वे ? क्या समझते मुझे ?’

तभी सधीवाबू सामने आ खड़े हुए । बोले—“साबुन देना, हाथ-मुँह धो डालूँ ।”

साबुन देते-देते मैंने पूछा—“बीमार का क्या हाल है ?”

“ठीक है ।” कहकर वे छत के कोने पर हाथ-मुँह धोने चले गये ।

जब लौटकर आये तो कपड़े से हाथ पोंछते-पोंछते बोले—

“लिली ! आज तुम्हें मैं कुछ भी न सुना सकूँगा । तुम्हारे अजीत भय्या ने मिल के कुछ मजदूरों को ‘हमारे मजदूर संघ’ से फोड़ लिया है । इसलिए आज होने वाली सभा स्थगित कर दी गयी है ।

तुम्हारे भय्या विदेश से चाहे और कुछ सीखकर न आये हों पर Divide and Rule की भेद-नीति का यह सिद्धान्त भली भाँति ग्रहण करके लौटे हैं ।

“मैं नहीं जानती यह सब कुछ । वह तो आप लोगों की बातें हैं सुधीबाबू ! कुछ तो बताइये, हाँ, यह कहाँ से आया ? किसका बच्चा है ?”

“आज नहीं फिर कभी ।”

“नहीं सुधीबाबू आज ही ।”

“अच्छा, तो शाम को सात बजे गेट ऑफ़ इण्डिया के उस कोने पर मिल सकोगी जहाँ उस दिन तुमने मुझे कार से लिफ्ट दी थी ।”

“अच्छा वहाँ ? आ जाऊँगी और इस बच्चे को साथ लायेंगे ?”

“नहीं, लिली ! इस बम्बई नगरी में मेरी एक परिचिता हैं । जब मैं सब ओर से निराश असहाय हो जाता हूँ तब उन्हीं का सहारा लेना पड़ता है सो इस बालक को भी वे ही संभालेंगी । कितना बजा है ?”

“एक बजकर पैंतालीस मिनिट ।”

“डेढ़ बजे आने वाली थीं आ ही रही होंगी ।” तभी किसी की हल्की पद-ध्वनि सुनाई पड़ी ।

मैं बैठी-बैठी सोच रही थी—‘कौन होंगी वह ऐसी जिन पर इन्हें इतना विश्वास है । सुधीबाबू क्या सचमुच ही छाया है ? क्या मैं छाया के पीछे ही दौड़ रही हूँ ?’

तभी उस कमरे में एक नारी ने प्रवेश किया। साँवला रंग था। काला जूड़ा सँभालकर बाँधा गया था। जूड़े में सफेद फूलों का गुच्छा इस प्रकार खोसा गया था जिसे देखकर उस नारी के कलात्मक स्वभाव का परिचय सहज ही में हो जाता था।

सुधीबाबू ने हम दोनों का परिचय कराया। परिचय पाकर अति विनम्र-सी होकर बोली—“आपका परिचय पाकर सचमुच ही मुझे प्रसन्नता हुई है। ऐसी लड़कियाँ अपने देश में कितनी हैं?”

बोलते समय उनके गाल में दो-तीन बार गड्ढे-से पड़ गये, जो उनके सौन्दर्य को और अधिक बढ़ा देते थे। सफेद साड़ी, सफेद ब्लाऊज पर जूड़े में लगे वे सफेद फूल देखकर मन बरबस उनकी ओर खिच जाता था। सुधीबाबू ने उस सोते बालक की ओर देखकर कहा—

“नीलू ! जानती हो यह कौन हैं ?”

“हाँ जानती हूँ।”

“तो अब.....”

“मुझे ही सँभालना होगा ?”

“हाँ, नीलू !”

“सुधीबाबू ! अब तो मैं सचमुच ही तुम से तंग आ गयी हूँ।”

“नीलू ! जिस दिन तुम तंग आ जाओगी उसी दिन मैं अपना अन्त समझ लूँगा। तुम्हारे ही.....”

“वस, बस, अधिक नहीं।”

“अच्छा, तो मैं चलती हूँ।”

तभी मुझे याद आया। पिताजी ने सुधीबाबू को साथ लाने के लिए कहा था। मैं बोली—“सुधीबाबू ! पिताजी ने आपको याद किया है।”

“मुझे ? पट्थ वंडर !”

“सुधीबाबू ! आप मेरे पिता को ग़लत न समझिए ।”

“निमंत्रित करके बिना खिलाए-पिलाए भेज देने वाले को मैं ग़लत कैसे समझ सकता हूँ !”

“फिर भी मैं चाहूँगी कि उनके सम्बन्ध में इतनी जल्दी आप अपनी कोई राय न बनायें सुधीबाबू ।”

“अच्छा, तो काम से निबटकर आज नौ बजे से पूर्व मैं किसी समय भी उधर चक्कर काट आऊँगा ।”

“और शाम को सात बजे ?”

“तो फिर तब ऐसा करते हैं कि वहीं से तुम्हारे घर चला चलूँगा । ठीक है ?”

“हाँ, यह ठीक रहेगा” कहकर मैं सुधीबाबू की उन नीलू के पास खड़ी होकर बोली, “बहिन ! अब आपके दर्शन कहाँ, और कब होंगे ?

“जब भी आप चाहेंगी ।”

“अच्छा, तब तो आप उतनी अलभ्य नहीं हैं ।”

“दरिद्री अलभ्य हो हा कैसे सकते हैं ?”

“जीवन में पहली बार कुछ ऐसे दरिद्रियों से पाला पड़ा है कि जिनके निकट आने में महीनों तपस्या-सी करनी पड़ी है ।”

“लेकिन मैं वैसी नहीं हूँ । आपके चाहने भर की बात है । तनिक-सा संकेत पाते ही आपकी कोठी पर आ धमकूँगी ।”

“सोच रही हूँ—आज सचमुच ही मेरे भाग जागे हैं, नहीं तो मेरा परिचय उसी वर्ग की बहनों से है जिनकी बातचीत का विषय होता है—नई मॉडल की गाड़ियाँ, फैशन, फिल्म । हाँ आप कल सुबह आ सकेंगी ? मेरी एक और सहेली है वह भी कल सुबह आ रही है ।”

“आ जाऊँगी ।”

“अच्छा नमस्कार !”

“नमस्कार ! सुधीबाबू भूलना नहीं ।”

“अच्छा नमस्कार !”

“नमस्कार !”

बम्बई के गेट आफ इंडिया के कोने पर प्रायः एकान्त-सा ही रहता है। मैं बैठी-बैठी सागर की उन उठती-गिरती रंगीन लहरों को देख रही थी। साँझ के रंगीन धन-खण्डों की प्रति-छाया उन लहरों पर पड़ रही थी। लगता था जैसे सागर में किसी ने रंग घोल दिया है।

उस रंगीन सागर को देखते-देखते मैं सोचने लगी—और मेरे एकाकी जीवन में जिसने रंग घोल दिया है सो क्या इसी प्रकार अस्थायी और मात्र भ्रम है जैसा कि इस सागर में मैं देख रही हूँ?

तभी मैंने देखा धीरे-धीरे सूर्यास्त हो गया। रजनी ने अपने काले हाथों से आकाश के उन रंगों को पोंछकर कालिमा पोत दी। मैं उस अंधेरे को चीरकर आँखें फाड़े सुधीबाबू की प्रतीक्षा करती चुपचाप बैठी थी।

उसी समय एक छाया-सी अपनी ओर आती देखी। मैं खड़ी हो गयी। दौड़कर मैंने सुधीबाबू के निकट जाकर बोली—“कितनी देर लगादी” अपनी घड़ी की रेडियम वाली सुइयों को दिखाकर बोली—“आठ बज चुका है।”

“ठीक समय पर ही आ जाता, किन्तु मेरे विश्वस्त साथियों ने बताया कि तुम्हारे भय्या मेरे प्राण लेने पर ही तुल गये हैं और इसका उन्होंने पूरा-पूरा बन्दोबस्त भी कर लिया है।”

सुनकर मैं काँप गयी और काँपते हाथों से सुधीबाबू के हाथ अपने हाथों में भीचती बोली—“अब सुधीबाबू?”

“अब क्या?”

“अब क्या करेंगे?”

“जो जीवन भर करता आया हूँ वही अब भी करूँगा।”

“क्या ? क्या करते आये हैं अब तक ?”

“सो क्या अपने शत्रु की बहिन को ही वह रहस्य बता दूँगा ?” कहकर वे हँस पड़े।

सुनकर मेरे हाथ ढीले पड़ गये। उनके हाथ छोड़कर मैं एक ओर जा बैठा।

सुधीबाबू मेरे पास आ बैठे। मेरा हाथ अपने हाथों में लेकर थपथपाते बोले—

“लिली ! बुरा मान गयी ?”

“बुरा क्यों मानूँगी ? आपने ठीक ही तो कहा है। ऐसे भाई की बहिन होने का फल मुझी को तो भुगतना है।”

“लिली ! डोन्ट बी सीरियस।”

“जिसके भइया किसी के प्राण लेने का षडयंत्र रच रहे हैं उसी को आप सीरियस न होने के लिए कह रहे हैं।”

“लिली ! जिसके प्राण ले लेने के लिए अंग्रेजी सरकार वर्षों तक अपनी सारी शक्ति लगाकर भी सफल न हो सकी सो कुछ समय इंगलैंड होकर लौट आने वाले तुम्हारे भइया में उतनी शक्ति नहीं है जो मेरे प्राण ले सकें। फिर तुम इतनी चिन्ता क्यों कर रही हो ?”

“यह बात आप पुरुष होकर नहीं समझ सकते सुधीबाबू।”

“अच्छा तो जो बात सुनने यहाँ आई थीं सो भी न सुन सकोगी ?”

“नहीं, सुधीबाबू यहाँ से जल्दी चलिए मुझे डर लग रहा है।”

“मैं जानता था कि तुम आज कुछ भी न सुन सकोगी। अच्छा चलो। कहकर मेरा हाथ पकड़ वे सड़क की ओर चलन लगे।”

गाड़ी सड़क के पास ही खड़ी थी। द्वार खोलकर सुधीबाबू ने गाड़ी में मुझे बिठा दिया और वे स्वयं सामने से होकर गाड़ी में बैठने के लिए फ्रन्ट सीट का द्वार खोलने लगे।

उस समय किसी के द्वारा सिर पर लगे आघात से वे लड़-खड़ा गये किन्तु निमिषमात्र में ही वे एक ओर घूमकर हट गये। दूसरा आघात पड़ा गाड़ी पर। शीशा खनखनाता बिखर गया। मैं किंकर्तव्यविमूढ़-सी वहीं सीट पर गिर पड़ी। केवल कनों से सुन रही थी—किसी के उठने-गिरने की धम्-धम् चीखने की आवाजों 'आह ! मर गया ! छोड़ दो !!'

तब मुझे लगा जैसे अर्धचेत अवस्था से मैं चेतनावस्था में आ चुकी हूँ। मैंने खिड़की से देखा, दो छायाएँ एक साथ सुधीबाबू पर दूट पड़ीं। सुधीबाबू ने दोनों की गदनें पकड़कर उनकी खोपड़ियाँ टकराकर एक ओर पटक दिया। सुधीबाबू हाँफते से मेरे पास आये और बोले—“लाइट करिये” देखूँ ये कौन हैं ?”

मैंने जब तक लाइट करने के लिए बटन दबाया तब तक वे दोनों एक ओर दौड़कर अंधकार में छिप गये।

वह सब कुछ एक-दो मिनट ही में घट गया था। मेरा सारा शरीर थर-थर काँप रहा था। गाड़ी में प्रकाश था सो सुधीबाबू जैसे ही मेरे पास फ्रन्ट सीट पर आकर बैठे मैं उनके उस चेहरे को देखकर मुँह फाड़े ही रह गई। उनके चेहरे का दायाँ भाग खून से भर गया था। ठौर-ठौर खून के लाल धब्बे लग गये थे। दायाँ कंधे का सारा सफेद कुर्ता खून से भर चुका था। उस खून से भरे चेहरे में उनकी आँखें चमक रही थीं। उस खून से लथपथ चेहरे को देखते-देखते मेरी जीभ ऐंठने लगी।

जब चेत आया तब देखा कि मेरा सिर सुधीबाबू की गोद

में था। पानी के हलके-हलके छींटे मेरी आँखों पर छिड़क रहे थे। मैंने कभी कल्पना भी न की थी कि सुधीबाबू की गोद में सिर रखकर कभी लेटने का ऐसा सौभाग्य भी सहज ही में प्राप्त हो सकेगा।

मैंने अपना हाथ उनकी कमर में लपेटकर मुँह उनकी गोद में छिपा लिया। तभी मुझे याद आया वह खून से भरा हुआ चेहरा और मैं हडबड़ाती-सी उठ बैठी। अब भी सिर से खून टपककर उनके दायें गाल से ढरकता हुआ छाती पर टपक रहा था।

मैंने घबराते हुए कहा—“हम कहाँ है ? कहीं पानी मिल सकेगा ?”

वे हँसते-से बोले—“पानी ही तो मैं तुम्हारे मुँह पर छिड़क रहा था। पानी के लिए ही मैं गाड़ी को ड्राइव करके इस गेट तक ले आया हूँ। यहाँ सीढ़ी है सो समुद्र से ही पानी भर लाया था। यह रहा पेट्रोल की पेट्री में।”

मैंने अपनी साड़ी का किनारा फाड़कर उन्हें गाड़ी की पिछली सीट पर लेटने के लिए कहा। वहीं धीरे-धीरे उनके चेहरे से खून पोंछा फिर जहाँ चोट आयी थी वहाँ धोती के एक टुकड़े की तह रखकर ऊपर से पट्टी बाँध दी।

मैं सुधीबाबू के सिर पर पट्टी बाँध रही थी। तभी वे अपने होंठों पर वही पहिले जैसी हँसी बिखेरते बोले—“लिली ! कभी कृष्ण की अँगुली में चोट आ गई थी तब इसी तरह द्रोपदी ने अपनी साड़ी फाड़कर पट्टी बाँधी थी। पढ़ा है कभी महा-भारत ?”

“हाँ, आगे यह भी पढ़ा था कि कृष्ण भगवान् ने बसका बदला चुकाया था द्रोपदी के चीर-हरण के समय।”

“आप भी चाहेंगी बदला ?”

“क्यों नहीं, यही तो हम लोगों को चाहिए। अपने ऊपर ऐसा सबल हाथ, ऐसा रक्षा का भाव जिसके सहारे जीवन के स्वप्न रचे जा सकें।”

“लिली ! तुम भी स्वप्न रचा करती हो ?”

“मेरा ऐसा कौन है सुधीबाबू जिसके सहारे स्वप्नों का सृजन किया करूँ ? जो सो समझते हैं मुझे अपने शत्रु के वर्ग की।”

“लगता है अभी तक तुम्हारा क्रोध शान्त नहीं हुआ है। वह तो मैंने वैसे ही विनोद में कहा था।”

“विनोद के मूल में सदा कुछ-न-कुछ सत्य रहा करता है ऐसा मैंने किसी मनोविज्ञान की पुस्तक में पढ़ा था।”

“पुस्तकों में सदा सत्य ही नहीं लिखा जाता लिली ! पुस्तकें लिखी जाती हैं अनुभव द्वारा और मानव का मन हाता है सत्-असत् का मिश्रण ! ठीक है न ?”

“अच्छा, जाने दीजिये उस बात को। बहुत देर हो गयी अब चलिए घर चलें। पिता जी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।”—कहते-कहते मैं फ्रन्ट सीट पर जा बैठी और गाड़ी स्टार्ट की।

सुधीबाबू भी मेरे पास वाली सीट पर आ बैठे। गाड़ी घर की ओर दौड़ी जा रही थी। मेरे मन पर जो आतंक-सा छा गया था सो बहुत कुछ सुधीबाबू की बातचीत से धुल-पुँछकर साफ हो गया था।

तभी सुधीबाबू ने अँगूठा और तर्जनी अपनी आँखों पर रखकर पूछा—“लिली ! मैं और तुम यहाँ सात बजे ‘गेट ऑफ़ इण्डिया’ पर आने वाले हैं। ऐसा तुमने किसी से कहा था ?”

“नहीं, मैंने तो ऐसा किसी से नहीं कहा ?”

“हूँ !”

“क्या अविश्वास हो रहा है ?”

“अविश्वास, अविश्वास की बात नहीं है लिली। मैं सोच रहा हूँ ये घात करने वाले तुम्हारे भइया द्वारा भेजे गये व्यक्ति ही होंगे। यह तो मुझे पता चल गया था कि कुछ लोगों को मेरे पीछे छोड़ दिया गया है, किन्तु यह नहीं जानना था कि प्राण लेने का प्रयत्न आज ही से प्रारम्भ कर दिया गया है।

“मैं उस गेट तक मित्र की कार से आया था। साथ ही ऐसे-ऐसे स्थानों पर गया था कि कोई भी मेरा पीछा नहीं कर सकता था।

“मैं समझता हूँ दोनों आक्रमणकारी तुम्हारी गाड़ी का ही पीछा करते-करते यहाँ तक पहुँचे थे। सोचना है यदि वे यह न जानते कि मैं तुम्हारे पास यहाँ आने वाला हूँ तो तुम्हारी गाड़ी का भी वे पीछा क्यों करते ?”

“तो आप समझते हैं कि आपके यहाँ आने की बात उन्हें मालूम थी ?”

“हाँ, मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचता हूँ। और मेरे यहाँ आने की बात आपके अतिरिक्त संसार में कोई भी न जानता था।”

“तो आपका मतलब है कि आपके यहाँ आने की बात मैंने ही भइया तक पहुँचायी है ?”

“नहीं, यह मैं नहीं कहता पर सोचता हूँ यह बात प्रगट कैसे हुई ? यदि मेरी गतिविधि के सम्बन्ध में तुम्हारे भइया तक सूचना पहुँच जाती है तब तो.....”

सुधीबाबू अपनी बात पूरी भी न कर सके थे कि गाड़ी कोठी के सामने जा खड़ी हुई।

मैं गाड़ी से उतरकर खड़ी हो गयी। रात काफ़ी बीत गयी थी सो मैंने कहा—“सुधीबाबू ! रात अधिक हो चुकी है, चलिये किसी डाक्टर से पढ़ी धंधवाती आपको आपके घर छोड़ आऊँ।”

“नहीं, अभी मैं यहीं ठहरूँगा। आप चलिये, मैं आता हूँ।”

उनके स्वर में दृढ़ता थी। यह वह स्वर नहीं था जिसे मैं अब तक सुनती आ रही थी। वह स्वर ही सर्वथा भिन्न था। बादल जैसा गम्भीर घोष इससे पूर्व उनके कंठ से मैंने कभी न सुना था।

मैं चुपचाप कोठी में आगयी। मैंने सीधे पिता जी के कमरे में जाने का निश्चय किया। कोठी के कोने पर ऊपर की मंजिल में पिता जी का कमरा था और दूसरी ओर भइया के दो कमरे थे। एक उनके सोने का और दूसरा ऑफिस था, उसी में भइया की लाइब्रेरी भी थी।

कुछ देर मैं पिता जी के कमरे के बाहर खड़ी रही। खड़ी-खड़ी सोचती रही—रात काफ़ी बीत चुकी है। पिता जी सो चुके होंगे। मैंने सिर उठाकर खिड़की के काँच से भाँककर देखा—पिताजी सो चुके थे। उनकी पलकें बन्द थीं। नाक से धीमी-धीमी आवाज़ आ रही थी जिससे लगता था कि वे गहरी नींद में सो रहे हैं।

मैं नीचे सुधीबाबू के पास जाने के लिए सीढ़ियों की ओर मुड़ी तभी मैंने देखा दो आदमी दबे पाँव सीढ़ियों से चढ़कर भइया के कमरे की ओर चले गये।

मेरी जिज्ञासा बढ़ गयी। मैं भी दबे पाँव उधर ही जाने लगी। यह देखकर मैं आश्चर्य में डूब गयी कि जैसे ही वे दोनों अज्ञात व्यक्ति भइया के कमरे में गये वैसे ही एक दूसरी काली छाया उस कमरे की खिड़की के पास जाकर खड़ी हो गयी।

यह समझते मुझे देर नहीं लगी कि दूसरी छाया सुधीबाबू ही थे। मैं भी चुपचाप उन्हीं के अति निकट जाकर खड़ी हो गयी। अन्दर होने वाली बातें वहाँ से स्पष्ट सुनी जा सकती थीं। भइया का क्रोध से काँपता कंठ सुनाई पड़ा—

“तो लगता है तुम कुछ भी न कर सके !”

“छोटे बाबू ! आपने मुझे बताया था कि वह गेट ऑफ़ इण्डिया जायेगा वहाँ हम लोग एक घंटे तक देखते रहे पर कहीं भी दिखायी न पड़ा ।”

भइया बोले—“हाँ, यही तो लिली ने मुझे बताया था ।”

तब मुझे याद आया कि भइया ने पिता जी से दोनों गाड़ियाँ माँगी थीं । मैंने उनसे कहा था मुझे सात बजे गेट ऑफ़ इण्डिया जाना है । किन्तु सुधीबाबू के आने की बात तो मैंने नहीं कही थी । हे राम ! अब सुधीबाबू क्या समझेंगे ?

वह कहे जा रहा था—“फिर माधो और मैं चार जनों को वहीं छोड़कर आगे बढ़ गये ।

“वहाँ मैंने बीबी जी और उसे गाड़ी में बैठते देखा । बस मालिक, मैंने लाठी छोड़ दी ।

माधो की लाठी तो भरकर उसके सिर पर पड़ी । मेरी लाठी चूक गयी । फिर मालिक ! वह किसी तरह काबू में नहीं आया ।”

“मैं जानता हूँ तुम हराम का रुपया खाना जानते हो काम तुमसे नहीं होगा ।”

“मालिक ! आप उसके घर का पता बता दीजिये फिर देखता हूँ कैसे कल की भोर देख पाता है । ससुरे की गर्दन काट कर रख आऊँगा । लेकिन मालिक ! एक खून का पाँच हजार से कम नहीं लेना । आपने बहुत थोड़े दिये हैं ।”

“अच्छा ! धीरे बोल काम होने पर पूरे पाँच हजार मिलेंगे । समझा ! उसके मकान का पता लिली से पूछकर बता दूँगा ।”

दूसरी आवाज़ माधो की थी । माधो बोला—“उसके घर का पता तो मुझे भी मालूम है । और बीबी जी भी लौट आयी हैं । गाड़ी नीचे खड़ी है । लगता है—तब वे उसे उसके घर पर छोड़कर ही आयी होंगी ।”

तभी भइया ने समझाते हुए कहा—“देखो मिस्टर स्मिथ ! रुपयों की चिन्ता न करो । रुपया जितना चाहोगे मिलेगा, लेकिन कल सुबह तक काम पूरा हो जाना चाहिए ।”

“मालिक ! यह पहिला काम नहीं है । इस मामले में आप स्मिथ को काला साँप समझिये जिसे डसा है उसने दूसरी साँस नहीं ली है । अच्छा मालिक ! मैं चलता हूँ । गुड नाइट !”

“गुड लक मिस्टर स्मिथ !”

हम दोनों एक ओर हट गये । उन दोनों में से एक तो दूधे पाँव सीढ़ियाँ उतरकर चला गया । और दूसरा फिर कमरे में चला गया । सुधीवाबू बिना मुझ से कुछ कहे सीढ़ियों की ओर जाने लगे । सीढ़ियाँ उतरकर जब वे गेट पर पहुँच गये तब जैसे-तैसे दौड़कर उनके अति निकट जाकर बोली -- “सुधीवाबू !”

“कहिये ?”

“क्या हुआ है आपको ?”

“क्यों अपने भइया से पूछकर कोई दूसरा जाल बिछाने आयी हो ?”

“सुधीवाबू ! मुझे गलत न समझिये ।”

“अजीत से सात बजे गेट आफ इण्डिया पहुँचने के बारे में कह दिया और जब मैंने पूछा तब कहा कि—मैंने वहाँ जाने के सम्बन्ध में किसी से कुछ नहीं कहा ?”

“सुधीवाबू यह आप... .. ।”

“मुझे और अधिक मूर्ख बनाने की सूझ-बूझ कम-से-कम तुम में नहीं है । मैं मूर्ख एक बार बनाया जा सकता हूँ दूसरी बार नहीं । तुम जानती थीं कि वे दोनों घात करने वाले यहाँ इस समय आयेंगे । इसलिए मुझे यहाँ से टालने के लिए बिना पिता जी से मिलाये ही घर भेज देना चाहती थीं जिससे उन घात करने वालों के सम्बन्ध में मैं कुछ भी न जान सकूँ, जिससे भावी

षड्यंत्र के सम्बंध में किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त न कर सकूँ ! और इस असफलता के बाद मेरी गर्दन घर ही में काट दी जाय ।”

“सुधीबाबू ! यह आप क्या कहे जा रहे हैं ?”

“मैं कह रहा हूँ इस प्रकार का धोखा देकर आप समूची नारी जाति के प्रति अविश्वास पैदा कर डालना चाहती हैं । सचमुच लिली ! आज तुमने मुझे एक सत्य का पदार्थ पाठ दिया है । चेहरे पर इतनी करुणा और सरलता का भाव और अन्दर इतनी कालिमा ।

अन्दर-बाहर में इतना अन्तर मैंने कभी न देखा, न सुना । हाँ’ शेक्सपीयर के एक नाटक ऑथेलो में अवश्य पढ़ा था ” कहते-कहते सुधीबाबू जाने लगे और मुड़कर बोले— “बट लिली डार्लिंग आई एम वैरी सौरी फ़ॉर दी होपलेस फेलियर ऑफ़ योर प्लान्स ।”

सुनकर मेरे प्राण बाहर को आने लगे । मैं विक्षिप्त-सी उस काली अंधेरी रात में दौड़कर सुधीबाबू के पैरों से चिपट कर बोली—“इतना बड़ा अविश्वास लेकर मैं किसी भी प्रकार आपको यहाँ से नहीं जाने दूँगी सुधीबाबू !”

“वैसा भावुक मैं नहीं हूँ ! छोड़ो !!” पैर से एक ओर मुझे उछालते-से वे चले गये । जब तक मैं उठी तब तक वे आँखों से ओभल हो चुके थे ।

मेरे पैर में मोच आगयी थी । बड़ी कठिनाई से कोठी तक फिर किसी तरह सीढ़ियाँ चढ़ती-चढ़ती ऊपर आयी । राधू वहीं खड़ा था । बोला—“आपको बड़े बाबू बुला रहे हैं ।”

मैंने सोचा, शायद उनकी कमर का दर्द बढ़ गया होगा । मैं जैसे-तैसे दीवाल का सहारा लेती पिताजी के कमरे की ओर गयी । द्वार खुला था । अन्दर पिताजी लेटे थे और भइया पास ही बैठे थे ।

जैसे ही मैं अन्दर पहुँची वैसे ही भइया क्रोध में काँपते बोले—“पिताजी ! आप मेरे ऊपर अविश्वास कर सकते हैं किन्तु अब लिली से ही पूछ लीजिये । पूछिये इससे कि यह ‘गेट ऑफ इण्डिया’ के पास उस कोने पर जो बम्बई के व्यभिचार का अड्डा है यह वहाँ उस कम्युनिस्ट के साथ क्या कर रही थी ?

“पूछिये इससे उस अँधेरी रात में वह पाजी इसके साथ था या नहीं ?”

पिताजी गंभीर होकर बोले—“लिली ! तुम कहाँ थीं ?”

“जी ! तो क्या हुआ ?”

तब भइया बोले—“हुआ यह कि मुझे खबर लगी थी कि यह रात-विरात उसके घर भी जाती है । मजदूरों की भोंपड़ियों में उस कम्युनिस्ट के साथ जाकर यह भी मजदूरों को भड़काती है । उसके अड्डे पर भी एक बार गयी थी । आज जैसे ही मुझे पता चला वैसे ही मैंने इसे बुलाने के लिए दो आदमी भेजे ।

“इसने वहाँ से आने के लिए मना कर दिया और उस कम्युनिस्ट ने हमारे दोनों आदमियों की खोपड़ियाँ तोड़ दीं ।” कहते-कहते भइया ने खड़े होकर आवाज़ लगाई—

“माधो !”

उसी आवाज़ के साथ माधो आकर कमरे में खड़ा हो गया ।

भइया बोले—“बोल तूने बीबी जी को उस कम्युनिस्ट के साथ किस-किस होटल में और कहाँ-कहाँ देखा है ?”

तभी पिताजी ने क्रोध से काँपते हुए कहा—“माधो ! भाग यहाँ से मुझे कुछ भी नहीं पूछना है । जा यहाँ से ।” किन्तु वह जा वहीं खड़ा रहा । उस से मस नहीं हुआ ।

यह देखकर पिताजी मारे क्रोध के थाली में भरे पानी की भाँति काँप उठे । उनकी आँखें बाहर को निकल आयीं । मुँह से फेफी निकलने लगी । वे अपने दाँतों से होंठ काटते उठे और

पास ही रक्खी छड़ी उठाकर उस माधो पर दूट पड़े। माधो चीखता-पुकारता कमरे से बाहर निकल गया। तब मैं जान सकी कि पिताजी के इस वृद्ध शरीर में भी अभी कितनी शक्ति है।

उस छड़ी को एक ओर फेंककर पिताजी ने हाँफते-हाँफते कहा—

“इस माधो को बुलाकर घर वालों के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करने के लिए तुम से किसने कहा था ? जब लिली को बुलाने के लिए आदमियों को भेजा तब मुझ से क्यों नहीं कहा ? तुम स्वयं क्यों नहीं चले गये ? आदमियों को वहाँ भेजने के लिए तुम से किसने कहा था ?”

“लेकिन पिताजी मैं...”

“चुप रहो !”

“जब तक मैं जीवित हूँ इस धर की मान-मर्यादा रखना मेरा काम है। तुम से केवल मिल का काम-काज देखने के लिए कहा गया था।”

“बट डेडी ! व्हाट डज़ इट मीन ?”

“यू शट अप !”

और भइया चुपचाप कमरे से बाहर निकल गये।

भइया ने सारी बात को कैसे घुमा-फिराकर कहा था सो सुनकर मारे क्रोध और लाज के मेरा बोल नहीं निकल रहा था। मेरा कंठ सूख गया था।

मैं जानती थी कि मैंने कोई अपराध नहीं किया किन्तु जिस प्रकार, जैसे लांच्छन भइया ने मुझ पर लगाये सो सब सुनकर जी चाहता कि छत से छलाँग लगाकर मैं अपना प्राणान्त कर लूँ। सोचने लगी—कोई भाई अपनी सगी बहिन पर ऐसा लांच्छन लगा ही कैसे सकता है ?

मैंने बहुत चाहा कि एक बार पिताजी की ओर देखूँ

किन्तु किसी प्रकार भी मैं उनकी ओर न देख सकी ।

तभी पिताजी ने कहा—

“जो मैं सोच रहा था आखिर वही हुआ ।”

कुछ देर चुप रहे फिर बोले—“लिली ! अब तुम जाकर सो जाओ । कल बात करूँगा ।”

पिताजी सदा मुझ से ‘बेटी’ कहा करते थे । पड़िली बार उन्होंने ‘लिली !’ कहकर पुकारा था ।

मैं बिना कुछ कहे कमरे से बाहर निकल आयी । पैर में चोट कसक रही थी और भइया ने मेरे चारों ओर जैसे असत्य और बीभत्स वातावरण का सृजन कर डाला था उससे घायल पक्षी की भाँति पर फड़फड़ाती घिमटती-सी मैं अपने कमरे में आकर बिस्तर पर जा पड़ी ।

पैर में दर्द हो रहा था किन्तु सुधीबाबू के अविश्वास और भइया द्वारा लगाए गये भूटे आरोपों के कारण जो चोट लगी थी उसे किसी प्रकार भी सह नहीं पाती थी ।

चोट खाई हिरणी की भाँति विस्तर पर तड़पती-सी सोचने लगी—सुधीबाबू मुझे विश्वासवातिनी समझते हैं । हे राम ! अब कैसे उन्हें विश्वास दिला सकूँगी कि वे जो कुछ सोच रहे हैं वह सब मिथ्या है, भ्रान्ति है, भ्रम है ।

और पिताजी कह रहे थे—जो मैं सोच रहा था वही हुआ ।

तो क्या पिताजी मुझे भी राजलक्ष्मी-जैसी ही लड़की मानने लगे हैं । यही सोच-सोचकर उन्हें कितना दुख हो रहा होगा । राजलक्ष्मी का पत्र पाकर ही जब उनकी मनोदशा वैसी हो गयी थी तो मेरे सम्मुख में फैलाई गयी इस भ्रान्त धारणा ने उन्हें तोड़कर रख दिया होगा !

उस दिन अपने घर के उस रहस्य की कुछ-कुछ झलक मेरे

सामने साकार होने लगी। जिसके सम्बन्ध में कई बार पिताजी संकेत कर चुके थे। सोचने लगी—कई बार मैंने पिता जी से कहा आप माता जी से बहुत कम बोलते हैं। प्रायः कमरे में एकाकी ही रहते हैं सो क्यों ?

आज ऐसे मौके पर पिता जी ने माँ को अपने पास क्यों नहीं बुलाया। अकेले ही सब कुछ क्यों सह रहे हैं ? कैसे सह पा रहे हैं ? तो क्या माँ और पिता जी के बीच कोई ऐसी ग्रन्थि है जो खुल नहीं पा रही है ?

सोचते-सोचते मैं उठ खड़ी हुई और धीरे-धीरे पिता जी के कमरे की ओर दीवाल के सहारे-सहारे जाने लगी। तभी मैंने भइया के कमरे में प्रकाश देखा फिर कुछ बातचीत की उड़ती-उड़ता आवाज़ भी सुनी। सो मैं पिता जी के कमरे की ओर न जाकर जा पहुँची भइया के कमरे की खिड़की के पास।

कमरे में भइया और माँ थीं। बातचीत इतने धीरे से कर रहे थे कि कुछ भी स्पष्ट न सुन पड़ता था। बातचीत के उबार-चढ़ाव से ऐसा लग रहा था जैसे वह साधारण बातचीत न होकर किसी के विरुद्ध कोई पड़्यंत्र रचा जा रहा है।

मैंने खिड़की से बिलकुल कान सटाकर सुनना चाहा। मैंने सुना माँ कह रही थी—“बस यही ठीक है। तू उस बूढ़े वक़रे को काट.....ठीक जायेगा” फिर भइया ने कहा—“अभी ! धीरे....” ।” फिर कुछ भी न सुन पड़ा किन्तु किसी भी तरह मैं उन उड़ते शब्दों का कोई अर्थ न निकाल सकी।

सोचने लगी—कौन है वह बूढ़ा वक़रा ? जिस काट डालने के लिए माँ समझा रही है। कोई दूर का सगा-सम्बन्धी होगा। मिल का कोई अधिकारी होगा ! कौन होगा राम ?

धीरे-धीरे मैं उस खिड़की से हटकर पिताजी के कमरे की

ओर चली आयी। मेरे उधर जाते ही एक छाया-सी कमरे से होकर भइया के कमरे की ओर चली गयी। मैंने जोर से कहा—
“कौन ? कौन है ?”

फिर सीढ़ियों से किसी के उतरने की आवाज आयी। मैंने बाहर बरांडे में खड़े होकर देखा कोई गेट से निकलकर बाहर चला गया।

मैं भय के मारे काँपती-सी पिताजी के कमरे के पास खड़ी सोचने लगी—अन्दर जाऊँ या नहीं ? पिताजी सो रहे होंगे या जाग रहे होंगे ? मैंने सिर उठाकर खिड़की के काँच से अन्दर की ओर देखा—पिताजी आरामकुर्सी पर लेटे सिगरेट पी रहे थे।

मैं धीरे से किवाड़ खोलकर अन्दर पहुँची। आरामकुर्सी के इधर-उधर सिगरेट के अवशिष्ट टुकड़े बिखरे पड़े थे। उसे देख कर लगा कि पिताजी सारी रात इन्हीं सिगरेटों के सहारे जागते रहे हैं।

“कौन था बेटी ?”

‘बेटी’ सम्बोधन सुनकर मुझे कुछ सहारा-सा मिला। मैं एक कुर्सी खींचकर उन्हीं के पास बैठ गयी।

मैंने समस्त साहस बटोरकर पिताजी की ओर देखा—लगा जैसे आधी रात में ही वे अति बूढ़े हो गये हैं। अभी रात के दो बजे थे। सोचने लगी इन थोड़े ही घंटों में पिताजी की आँखें गढ़े में चली गयी हैं। सारा मुँह काला पड़ गया था।

मैं पिताजी की आरामकुर्सी के पीछे उनके कंधों पर हाथ रखे चुपचाप खड़ी हो गयी। पिताजी ने अपने दोनों हाथ उठाये और अपनी मोटी हथेलियों से मेरी अँगुलियाँ थामकर रुँधे कण्ठ से कहा—“तुम सोई नहीं बेटी ! कौन था अभी ... ?”

फिर वे किसी भी प्रकार अपना वह वाक्य पूरा न कर सके।

उन्होंने मेरे दोनों हाथ खींचकर अपनी गर्दन में लपेट लिये तब मैंने अनुभव किया कि पिताजी की आँखों के गर्म-गर्म आँसू मेरी अँगुलियों पर टप्-टप् गिर रहे हैं ।”

पिताजी को इस प्रकार कभी मैंने रोते नहीं देखा था । वे आरामकुर्सी से उठकर चारपाई पर जा बैठे । मैं उनके पास ही बैठ गयी । उन्होंने दोनों हाथों से मेरा सिर थामकर अपनी ओर घुमाया । फिर धीरे-धीरे अपनी छाती से चिपटाकर मेरी पीठ थपथपाते बोले—

“बेटी, तेरे चले जाने पर मैं अजीत की एक-एक बात को लेकर सोचता रहा किन्तु कहीं भी मुझे तेरा कोई दोष न दिखायी पड़ा । सोचता रहा—उसने जो कुछ भी बताया था सो तो उस से पूर्व तू भी मुझे समय-समय पर बता चुकी थी किन्तु जिस ढंग में अजीत ने सब कुछ कहा उससे मैं भी ऐसा बह गया कि स्वयं भी रात भर जागता रहा और तुझे भी कम कष्ट नहीं दिया है । बहुत बुरा माना होगा तूने क्यों बेटी ?”

मैंने बिना कुछ जवाब दिये कहा—“अब लेट जाइये पिता जी!”—कहते-कहते मैंने उन्हें लिटा दिया—फिर कम्बल उढ़ाकर उनके पैर उठाकर पैरों के नीचे कम्बल दबा दिया । फिर पास ही कुर्सी खींचकर बैठ गयी ।

पिताजी ने मुझे कुर्सी से खींचकर अपने पास चारपाई पर ही बिठा लिया । मेरा एक हाथ अपनी छाती पर रखकर कहा—“बेटी, जो बात अब तक तुझ से छिपाता आ रहा हूँ उसे जी का अब समय आ गया है । आज को घटना न आने वाले समय को सूचना मुझे दे दी है ।

“यदि तू अभी अजीत के कमरे में जाये तो देखेगी कि उसकी माँ भी वहीं बैठी होगी ।”

“हाँ, मैं अभी देखकर ही आयी हूँ ।”

“तू जानती है ये लोग क्या सोच रहे होंगे ?”

“नहीं तो ।”

“वे सोच रहे होंगे मेरी हत्या के उपाय ।”

“पिताजी !”—कहकर मैं अपना सिर उनकी छाती पर रखकर सिसकने लगी और सिसकते-सिसकते ही बोली—

“पिताजी ! क्यों है ऐसा ? क्या ?”

“बेटी ! आज से लगभग बाईस वर्ष पहिले की बात है । जाड़े के दिन थे तेरी मां नीचे के बराण्डे में बैठी तुझे पालने में झुला रही थी । हम दोनों तेरा नाम क्या रक्खा जाये, इस बात को लेकर झगड़ रहे थे । मैं चाहती थी कि तेरा नाम राजलक्ष्मी रक्खा जाये और मुझे ‘लिली’ नाम पसन्द था ।

“पिताजी ! क्या वह उस राजलक्ष्मी की चिट्ठी थी ?”

“हाँ बेटी ! वह तेरी चचेरी बहिन थी ?”

“तो क्या काश्मीर उन्हें देखने बाबा गये हैं ?”

“हाँ, बेटी ?”

“इस बुढ़ापे में बाबा को क्या भेजा ? और आपने आज तक मुझे बताया क्यों नहीं कि मेरे बाबा भी हैं ? बताइये, बोलिये पिताजी !”

“बेटी ! उनकी उम्र अब लगभग सौ वर्ष की होगी किन्तु अब भी वे किसी के हाथ का छुआ भोजन नहीं करते । जब भी उनके लिए रुपये भेजे गये उन्होंने वापस भेज दिये ।”

“ऐसा क्यों करते हैं वे ?”

“उनकी अबझा करके आज से लगभग बीस वर्ष पहिले मैंने एक ऐसा काम किया था जिसे वे किसी भी प्रकार क्षमा न कर सके । कभी उन्होंने पत्र नहीं लिखा । एक बार मैं गाँव गया तो मुझ से बिलकुल नहीं बोले यहाँ तक कि जब मैंने उनकी पगधूलि लेने के लिए हाथ बढ़ाये तो पैर खींचकर एक ओर

हट गये।

“बेटी ! उनका पुत्र होकर भी मैं उनके द्वारा किया गया अपमान सह नहीं पाया। मेरा वही खून तेरी रगों में बह रहा है, इसीलिए तुम पर क्रोध दिखाकर हमेशा दुखी हो उठता हूँ। मैं कभी भी अपमान नहीं सह सका चाहे वह अपमान अपने किसी श्रद्धेय परिजन द्वारा ही किया गया हो।

“उसके बाद हम लोग कभी एक दूसरे से नहीं मिले। बस उस दिन उनके द्वारा भेजा गया वह राजलक्ष्मी का पत्र आया था। उसे मैंने कई पत्रों में प्रकाशित भी करा दिया है।”

सुनकर मेरा जी चाहा कि चिड़िया होती तो उड़कर अपने उन स्वाभिमानी बूढ़े बाबा की गोद में जा छिपती।

सोचते-सोचते मैं बोली—“पिताजी ! मैं कल सुबह ही काश्मीर जाऊँगी।”

“लेकिन बेटी ! तुम वहाँ बाबा को पहिचानोगी कैसे ? फिर जब तक वहाँ पहुँचोगी तब तक वे इधर लौट आयेंगे तुम्हें मिलना ही हो तो मैं गाँव से खबर मंगा लूँगा, फिर तु गाँव जाकर बाबा से मिल आना।”

‘अच्छा’ कहकर मैं चुप हो गयी।

तभी किवाड़ घूमने की आवाज़ आयी। मैं चौंक पड़ी। कमरे से बाहर आकर देखा। वहाँ कोई भी दिखलाई न पड़ा। मैं चुप होकर पिताजी के पास जाकर बैठ गयी।

पिताजी बोले—“क्या बात है ? बाहर क्यों गयी थी बेटी ?”

मैंने सोचा—बाहर कोई है। किवाड़ के खुलने की आवाज़ आयी थी। पता नहीं क्यों आज मुझे बहुत डर लग रहा है ?” कहते-कहते मैंने पिताजी की हथेलियाँ जोर से थाम लीं। पिता जी ने एक हाथ से मेरी पीठ थपथपाकर कहा—

“घबड़ा नहीं बेटी। अभी तेरे इस बूढ़े बाप में इतनी शक्ति है कि आजकल के दो-चार छोकरोँ का सहज ही सामना कर सकता हूँ।”

मैं बड़े अभिमान से पिताजी की ओर देखती-देखती बोली—“हाँ पिताजी! ऐसा क्या किया था आपने जिससे बाबा आपको आज तक क्षमा न कर सके?”

“तुम से कहा न, उस रात हम दोनों तेरे भविष्य के सुन्दर सपने देख रहे थे। रात के लगभग दस बजे होंगे। जाड़े की रात थी। तभी एक औरत एक बच्चे को अपनी छाती से दाबे कोठी के गेट पर आ खड़ी हुई।

तेरी माँ ने उसे देखा और नौकर को भेजकर बुला लिया। जाड़े की रात में छाती से चिपटे थर-थर कँपते उस बच्चे को देखकर तेरी माँ की आँखें छलछला आयीं।

वे दौड़ती-सी अन्दर कमरे में गयीं और एक भारी बम्बल उस नवागन्तुका को देकर बोली—“ले, बच्चे को अच्छी तरह ढॉपकर बैठ। कहाँ से आयी है? इतनी रात गये इसे लिये सड़क पर क्यों घूम रही है?”

वह आर्द्र कंठ से जाड़े में काँपती-सी बोली—“पिछले महीने हैजे में सब कोई मर गये हैं? मैं और यह बच्चा ही बच गया है। राज कहीं भी भीख नहीं मिली। दूध के लिए बिलबिला रहा है। सो कहीं दूध मिल जाये, इसी चिन्ता में यहाँ आ खड़ी हुई थी।”

मैंने सुनकर नौकर को बुलाया और दूध लाने के लिए कहा।

उस नन्हें बच्चे ने दूध का पात्र अपने नन्हे हाथों से ऐसा पकड़ा कि जब तक पैर चलाते-चलाते सारा दूध नहीं पी लिया, तब तक उस पात्र को नहीं छोड़ा।”

तेरी माँ बोली—“तो तू कहीं कुछ काम-काज क्यों नहीं कर लेती ?”

“आज की इस बेकारी में मुझे कौन काम देगा ?”

बात यह थी कि तेरी माँ भारतीय संस्कृति में पाली-पोसी गयी थीं और मेरी समस्त शिक्षा-दीक्षा यूरोप में हुई थी। फिर भी हम दोनों में जितना स्नेह था, सो उन दिनों की एक-एक बात याद कर के आज मैं व्यथित हो उठता हूँ। आज तूने ठीक अपनी माँ की तरह मेरे पैर उठाकर कम्बल दाबा था, उन दिनों की एक-एक बात याद आते ही आज-कल मुझे रह-रह कर शूल-सी चुभ उठती है।

“तो माँ अब इतनी बदल क्यों गयी ?”

“सुनो बेटी ! तब तुम्हारी माँ ने निश्चय किया कि मेरे छोटे भाई, तेरे चाचा, की लड़की का नाम राजलक्ष्मी रखवा जाये। फिर दूसरे दिन मैंने अपना निर्णय तेरे चाचा के पास गाँव भेज दिया था जिस दिन मेरी चिट्ठी गाँव पहुँची उसी दिन उनकी मृत्यु हो गयी थी। तेरी चाची ने उसका नाम राजलक्ष्मी ही रखवा था। फिर थोड़े दिनों बाद वह भी राजलक्ष्मी को इस संसार में अकेली छोड़कर चली गयी।

‘अच्छा, तू यहीं रह।’ कहकर माँ ने नौकरानी को बुलाकर उसके सम्बन्ध की सारी आवश्यक सूचनायें देकर उसे अन्दर भेज दिया।

जब वह चली गयी तब मैंने कहा—‘यह तुमने क्या किया ? अज्ञात कुल—धर्म के व्यक्ति को इस प्रकार रख लेना तुम्हारे शास्त्र में वर्जित नहीं है ?’

तब हँसकर बोली—हमारा शास्त्र आपके यूरोप के शास्त्र से भिन्न है। हमारे शास्त्र में तो दुखी जनों के लिए प्राण तक दे देना ही परम धर्म माना है।

“बेटी ! कौन जानता था कि उनके मुँह से निकली वह बात एक ही वर्ष बाद सत्य होकर मेरे सामने आ जायेगी ।”

“क्या कहा पिताजी ?”

“हाँ बेटी ! उसके एक वर्ष बाद ही वे परलोक चली गयीं या भेज दी गयीं ?”

“क्या कह रहे हैं आप ?”

“हाँ बेटी ! सच ही कह रहा हूँ । यह तेरी माँ नहीं है । अजीत की माँ है ।” इसी बात को लेकर तेरे बाबा ने मुझे त्याग दिया है ।

“पिताजी !” कहकर मैं उनकी छाती से चिपट गयी और लगा, जैसे जिन शंकाओं एवं संदेहों की अधियारी में मैं बचपन से भटकती आ रही हूँ, वह अधियारी अचानक आलोकित-सी हो उठी है ।

जिन्हें अब तक मैं अपनी माँ समझे बैठी थी, जिन्होंने कभी मुझे किसी भी प्रकार का दुख नहीं दिया, कभी कड़ी बात भी नहीं कही, किन्तु न जाने क्यों, मैंने कभी उनमें माँ की ममता तथा सहज स्नेह का अनुभव नहीं किया । इसीलिए शायद मैं सदा जीवन से उखड़ी-उखड़ी-सी रहती थी ।

तभी पिताजी बोले—“सह लेना बेटी ! आज तो तुझे बहुत कुछ सहना है ।”

“पिताजी !” कहकर मैंने जोर से अपने दोनों हाथों से अपनी ही आँखें छिपा लीं ।

तभी वे बोले—“बेटी ! तेरे पिताजी ने इस शरीर से जो कुछ भी किसी समय भला-बुरा किया है सो तू क्षमा कर देना ।”

मैंने साड़ी के छोर से आँसू पोंछकर कहा—“ऐसा मत कहिये पिताजी ! फिर क्या हुआ ? किसने परलोक भेजा था

मेरी माँ को ?”

“बेटी ! अजीत की माँ किसी दिन अति सुन्दरी थी । मैं यूरोप से लौटा था । जैसा मैंने तुम्हे बताया, मेरी शिक्षा-दीक्षा ही यूरोप में हुई थी, सो नर-नारी के सम्बन्धों के प्रति भारतीय संयम की मुझ में कमी थी ।”

एक दिन तुम्हारी माँ को इस सत्य का ज्ञान हुआ । वे इस धक्के को किसी भी प्रकार न सह पायीं । दो दिन तक बिना खाये-पिये नीचे के कोने वाले कमरे में पड़ी रहीं ।

मैंने रुँधे कंठ से कहा—“जिस कमरे में वह चित्र टंगा है क्या वही थी मेरी माँ ?”

जी चाहा, उसी क्षण दौड़ जाऊँ और अपनी माँ के उस चित्र को छाती से लगाकर जी भरकर रो लूँ ।

तभी पिताजी ने मेरा हाथ अपने हाथ में जोर से दबाकर कहा—बेटी ! अजीत की माँ को जब पता चला कि तेरी माँ उसे घर से निकाल देंगी, तो उसने दबा के साथ तेरी माँ को विष दे दिया ।

“और उसी से आपने शादी करली ?”

“तब मैं इस बात को नहीं जानता था । इसका रहस्योद्घाटन हुआ तेरी माँ की मृत्यु के पाँच वर्ष बाद । विष देने की बात तेरी माँ का इलाज करने वाले डाक्टर ने जान ली थी । अजीत की माँ ने उसे कई हजार रुपये देने का वायदा करके उसका मुँह बन्द कर दिया और मेरे साथ शादी करके उसके रुपये भी चुका दिये ।

“फिर आपको इस बात का पता कैसे चला ?”

“पाँच वर्ष बाद वह डाक्टर बीमार पड़ा । उसकी मैंने कई प्रकार से समय-समय पर सहायता की थी । यहाँ तक कि उसकी पढ़ाई-लिखाई का अधिकांश स्वर्च भी कभी मैंने ही किया था । मरते समय उसका सदसद् विवेक जागा और मृत्यु से

कुछ मिनिट पहिले उसने मेरे सामने इस रहस्य को प्रकट कर दिया ।

“बेटी ! यह बात आज तक मैंने अजीत की माँ के सामने प्रकट नहीं होने दी है कि मैं उसके इस रहस्य को जान गया हूँ, किन्तु उस दिन के बाद मैं किसी भी प्रकार पति-पत्नी के सम्बन्ध को न निभा सका । इस नये परिवर्तन के लिए बहुत से कल्पित कारण बताकर मैंने उसे सन्तुष्ट करना चाहा, किन्तु सन्तोष उसे हुआ नहीं ।”

“पिताजी ! और अब यदि हम लोगों को भी विष दे दिया तो ?”

“विष वह अवश्य ही दे देती, किन्तु न देनेके कुछ कारण हैं । मैंने उससे वैधानिक शादी नहीं की थी । इसलिए उसके लड़के का कानूनी अधिकार मेरी सम्पत्ति पर नहीं होता । अजीत की माँ चाहती है कि अजीत को मैं अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दूँ और उन कागजों पर मेरे हस्ताक्षर होते ही मुझे समाप्त कर दिया जाय या कोठी से बाहर निकालकर सड़क पर भीख माँगने के लिए छोड़ दिया जाय ।”

“पिता जी !”

“हाँ बेटी !”

“और अजीत भइया ?”

“यह वही लड़का है जिसे उस जाड़े की रात में छाती से चिपटाकर वह लायी थी ।”

“पिता जी !”

“हाँ ।”

“इतने दिनों तक यह सब आप छिपाए रहे सो क्यों ?”

“इसीलिए कि जो कुछ हो चुका सो हो चुका अब कुल की मान-भर्यादा रखने के लिए अधिक तमाशा न किया जायि ।

वही मेरा उद्देश्य था। अब भी मैं चाहता हूँ कि तुम अपने व्यवहार में किसी भी प्रकार का अन्तर न आने देना।”

“लेकिन पिता जी!”

“क्यों ? क्या हुआ ?”

“अपनी माँ की उस हत्यारिनी प्रेतनी को मैं ‘माँ’ कैसे कह सकूँगी ? और अभी जो कुछ उस कमरे में सुनकर आ रही हूँ, उस सब का अर्थ अब मैं ठीक-ठीक समझ पायी हूँ।”

“क्या सुना था ?”

“पूरी बात तो सुन नहीं पायी, किन्तु कुछ-कुछ सुन पायी थी। वह अजीत से कह रही थी—बस यही ठीक है। तू उस बूढ़े बकरे को काट ... ठीक ... जायगा।”

सुनकर पिताजी ने कहा—“अच्छा, तो यह बात है। शायद वह पहिले गाँव जाकर पिताजी की हत्या करना चाहेगी और फिर मेरी और तुम्हारी, जिससे मेरी मृत्यु के बाद मेरे वंश का कोई भी उत्तराधिकारी शेष न रहे।”

“नहीं पिता जी ! बूढ़ा बकरा उन्होंने आपके लिए ही कहा होगा। अब मैं समझी। जब मैं इधर आयी थी, तब एक छाया-सी इधर से जाते मैंने देखी थी। तभी तो मैं ‘कौन ? कौन ? चिल्लायी थी।”

सुनकर पिताजी के होठों पर उदास मुस्कान बिखर गयी, फिर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक से लगाकर बोले—

“जाको राखै साइयाँ, मारि सकै ना कोय।

तो लगता है, आज मैं रात भर जागता रहा, इसीलिए हत्यारे को मेरी गर्दन काटने का अवसर नहीं मिला।”

सुनकर मैं पिताजी की छाती पर सिर रखकर निर्वाक-निःशब्द फूट-फूट कर रोने लगी।

फर शान्त होकर मैं विगत संध्या की सारी बात वस्तार से

पिताजी को बतलाने लगी । पिताजी बीच ही में घबराकर बोले—

“कहीं इन हत्यारों ने सुधीबाबू की हत्या न कर डाली हो !”

“सो कैसे हो सकता है पिताजी ! वे स्वयं अपने कानों से ही अपनी हत्या के सम्बन्ध में सब-कुछ सुन कर गये हैं !”

“बेटी ! तू कल सुधीबाबू को बुला लाना । अब जब बात यहाँ तक पहुँच चुकी है, तो सब कुछ तय करना ही होगा ।”

मैंने अपना सिर पिताजी की छाती से उठा लिया और खिड़की की ओर आकाश में चमकते शुक्रतारे को देखती-देखती आर्द्र कंठ से बोली—

“पिताजी ! अब वे नहीं आयेंगे । वे समझते हैं कि अजीत के साथ मैं भी उनकी हत्या के षड्यंत्र में सम्मिलित हूँ ।”

“अच्छा, मेरा पत्र ले जाना । सब कुछ ठीक हो जायगा ।”

तभी हम दोनों ने साथ-साथ नीचे का फाटक खुलने की आवाज़ सुनी । हम दोनों बाहर के बरांडे में आकर खड़े हो गये । एक काली छाया-सी सीढ़ियों की ओर आ रही थी ।

मैंने पिताजी से कहा—“आप अन्दर बैठिये । लगता है, यह वही स्मिथ है । सुधीबाबू के घर से लौटा होगा । मैं उस खिड़की से सुनकर आती हूँ । देखें क्या कहता है ?”

पिताजी कमरे में बैठ गये । मेरे पैर में अब भी दर्द था किन्तु किसी तरह धीरे-धीरे अजीत के कमरे की ओर गयी । उस कमरे में प्रकाश हुआ और वह हत्यारा कमरे में चला गया ।

मैं खिड़की से कान लगाए सुन रही थी । स्मिथ अति उत्साह से कह रहा था—

“मालिक ! एक हाथ में टें हो गया । पूरी छुरी गर्दन में समा गयी । मालिक ! ‘हिच्च’ भीतो नहीं हुई । पाजी नेबिना आवाज के प्राण छोड़ दिये । अब मालिक पूरे पाँच हजार कर दीजिए ।”

“शाबास ! अभी देता हूँ तुम्हारे बाकी तीन हजार !”

सुनकर मुझे लगा जैसे मेरे शरीर से प्राण निकल गये हैं । मैं किसी तरह पैरों पर शरीर का भार साधे पिताजी के कमरे में आयी ।

मुझे देखते ही पिताजी का मुँह काला पड़ गया । वे हड़बड़ाते से उठे और मुझे सँभालने के लिए हाथ बढ़ाये । मैं धम्म से चारपाई पर गिर पड़ी ।

वे घबराते-से बोले—“क्या हुआ बैटी ?”

“हत्या कर डाली !”

“किस की ?”

“सुधीबाबू की ।”

“कैसे जाना ?”

“वही कह रहा था ।”

“ठीक-ठीक सुन लिया था ?”

“कुल पाँच हजार देना तय हुआ था । दो हजार पहिले दे दिए थे, बाकी तीन हजार अभी-अभी दिये जा रहे हैं ।”

“अभी वह गया तो नहीं है ?”

“नहीं ।”

‘हूँ’ कहकर पिताजी उठकर खड़े हो गये । उन्होंने तकिये के नीचे से रिवॉल्वर निकाला और एक बार उसे खोलकर उसमें रखे कारतूस गिनकर बन्द कर दिया, फिर ओवरकोट पहिने कमरे से बाहर निकलते-निकलते बोले—“तू यहीं बैठना ! मैं अभी आता हूँ ।” कहते-कहते वे चले गये ।

मैं सोचने लगी—कहीं मेरे वृद्ध पिताजी को भी उन हत्यारों ने.....

फिर मैं किसी भी तरह उस कमरे में न बैठ सकी । मैं भी उनके पीछे धीरे-धीरे चली गयी ।

पिताजी ने अजीत के कमरे के किवाड़ खोले और निर्भीक छाती ताने कमरे में घुस गये। इससे पूर्व इस प्रकार चलते मैंने कभी पिताजी को नहीं देखा था। पता नहीं जो कमर दर्द के मारे सदा झुकी रहती थी, सो आज कैसे सीधी हो गयी थी ?

मैं दौड़कर खिड़की से कान लगाये सुनने लगी। पिताजी ने काँपते हुए हड़ कण्ठ से कहा—

“तू ही है वह हत्यारा !”

“डेडी ! डोन्ट कम इन माई बे अदरवाइज (पिताजी। मेरे रास्ते में मत आओ)”

“शटअप यू कावर्ड !” (चुप रह रे कायर !)

उसी के साथ ठाँय ठाँय गोलियों की आवाज़ आयी। मेरी पिंडलियाँ काँपने लगीं। गोलियाँ खिड़की का शीशा तोड़ती निकल गयीं। तभी ऐसा लगा जैसे किसी ने किसी को उठाकर फेंक दिया है। शीशे के टूट जाने से मैं भली भाँति सिर ऊँचा करके सब कुछ देख सकती थी।

मैंने सिर उठाकर कमरे में देखा। पिताजी ने दोनों की गर्दनें अपने पंजों में दबा रक्खी थीं। पिताजी गुस्से में काँपते-काँपते बोले—

“सँपोले ! इसीलिए आज तक मैंने दूध पिला-पिलाकर तुम्हें पाला था कि एक दिन बड़ा होकर मुझी पर वार करे !”

कहते-कहते पिताजी ने उन दोनों को उठाकर खड़ा कर दिया और फिर दोनों को घसीटते-घसीटते बाहर निकाल लाये।

तभी मेरी माँ की हत्यारिनी अजीत की माँ ने कमरे में प्रवेश किया और बिल्ली की भाँति आँखें चमकाती बोली—
“मेरे बेटे को चाहें तुम फाँसी ही लगवा देना किन्तु तुम्हारे कुटुम्ब के सारे रहस्य मेरे पास हैं।

राजलक्ष्मी की चिट्ठी मैंने भी पढ़ी है। अब तक दुनिया ने

केवल यही जाना है कि किसी राजलक्ष्मी ने होटल में एक रात शराब पीकर क्या-क्या किया था किन्तु अब दुनिया यह भी जानेगी कि वह बम्बई के नामी सेठ श्री रामनाथ कानोड़िया की भतीजी थी।”

सुनते ही पिताजी के पंजे ढीले पड़ गये और वे चुपचाप कमरे से निकलकर बाहर आ गये।

मैं पिताजी के साथ-साथ कमरे में आ गई। पिताजी चार-पाई पर लेटे लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगे।

अब तक सुबह हो चुका था। आगे के चौक में खड़े अनार और शहतूतों के पेड़ पर चिड़ियाएँ चहकने लगी थीं। तभी मैंने सुना कोई सीढ़ी से उतरकर चला गया है। मैंने अनुमान किया—यह जाने वाला स्मिथ ही होगा।

धीरे-धीरे पिताजी दर्द के मारे छटपटाने लगे। उन्हें पुराना हृदय का दौरा हुआ था, मैं दौड़ी-दौड़ी राधू के पास गयी। उसे डाक्टर सेन को बुलाने के लिए भेज दिया।

थोड़ी ही देर में डा० सेन आ गये। उन्होंने कुछ इंजेक्शन और खाने के लिए गोलियाँ दीं। आधे घंटे में पिताजी की तबियत कुछ ठीक हुई। फिर उन्हें नींद आ गयी, और वे गहरी नींद में सो गये।

मैं चुपचाप पिता जी की चारपाई के पास ही कुर्सी पर बैठी थी और मेरे प्राण उड़ गये सुधीबाबू के मृत शरीर के पास जो उनके कमरे में अकेला पड़ा होगा जिस पर मक्खियाँ भिन-भिना रही होंगी। मेरे प्राण वहाँ जा पहुँचने के लिए छटपटाने लगे। तभी राधू ने आकर सूचना दी कि कमरे से बाहर कोई बाबू खड़े हैं। वे आपको याद कर रहे हैं।

मैंने बाहर निकलकर देखा—सुधीबाबू चुपचाप दीवाल का सहारा लिये खड़े थे।

मैं आश्चर्यचकित हो उन्हें देखती ही रह गयी। तभी वे हँसते-हँसते बोले—

“माई डीयर यंग लेडी ! आश्चर्य हो रहा है कि मुर्दा चल कर यहाँ तक कैसे आ गया ?”

“सुधीबाबू ! इस कमरे में आ जाइये।”—कहकर मैं पिताजी के पास वाले अतिथि-गृह में चली गई।

सुधीबाबू को आरामकुर्सी पर बिठाकर पास ही कुर्सी खींच कर मैं बैठ गई।

सुधीबाबू मेरी ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते-देखते बोले—
“मैंने बहुत चाहा लिली ! कि मैं यहाँ न आऊँ पर तुम्हारी दूसरी असफलता के प्रति संवेदना के दो शब्द कहे बिना किसी भी तरह मुझे चैन नहीं आया, इसीलिए चला आया।”

“सुधीबाबू !”

“हाँ, लिली ! सचमुच ही मुझे बहुत दुख है। यह जानकर भी कि मुझे मेरी हत्या के षड्यन्त्र का पता चल गया है, फिर भी

तुमने उस हत्यारे को मेरे पास भेज ही दिया। सचमुच ही तुम्हारे साहस की तो सराहना किये बिना रह नहीं सकता।”

“सुधीबाबू ! ऐसा कौन सा अपराध मैंने किया है जिसके लिए आप इतना बड़ा दण्ड मुझे दिये चले जा रहे हैं ?”

सुनकर सुधीबाबू उठे और कमरे में चक्कर काटने लगे। मेरी आँखों से भर-भर आँसू बह रहे थे तभी वे हँसते-हँसते बोले—

“लिली ! मैं तुम्हें अभिनेत्री बनने की सलाह देता हूँ। इस प्रकार के रोने का अभिनय शायद विश्व की कोई भी अभिनेत्री न कर सकी होगी।”

सुनकर मुझे लगा जैसे अनेकों विद्युत-धारायें मेरे शरीर में आ-आकर प्रवेश कर रही हैं। मैं क्रोध और परिताप में काँपती चीख पड़ी—“सुधीबाबू ! चले जाइये यहाँ से !”

“इस आज्ञा को मैं एक बार पहिले भी सुन चुका हूँ। शायद आप भूल गयी होंगी। किन्तु मैं आज तक नहीं भूला हूँ। लेकिन तब मेरे हाथ में दूध का पात्र था। “कहकर वह खिलखिला पड़े।

मैं क्रोध में काँपती हुई बोली—“आप जाते हैं या नहीं ?”

तब और अधिक जोर से हँसते-हँसते वह बोले—“लिली ! आज तो सचमुच ही मुझे दुःख है कि मैं तुम्हारी आज्ञा को न मान सकूँगा। आज तुम्हारे पिताजी से एक आवश्यक विषय पर घात करनी है।”

“पिताजी की तबियत ठीक नहीं है। वे आज आप से नहीं मिल सकेंगे।”

“किन्तु लिली ! सुधीबाबू जिससे मिलना चाहते हैं, उससे मिलकर ही रहते हैं। मैं मिलने आया हूँ सो मिलकर ही जाऊँगा।” कह कर वे धरती से जूते की टो बजा-बजाकर तबले के बोल निकालने लगा।

यह देखकर मेरे सारे शरीर में आग लग गयी। मैं चुपचाप उठकर कमरे से बाहर निकलने लगी, तभी वे बोले—“बाहर से कमरे की साँकल न लगा देना। मुझे खिड़कियों से बाहर निकल जाने का अच्छा अभ्यास है।”

सुनकर मैं चीख पड़ी—“सुधीबाबू !”

“जोर से न बोलिये’ पिताजी की नींद उचट जायगी। इन कम्युनिस्टों के मारे पूँजीपतियों को कभी-कभी तो नींद आती है, सो भी आप चीख-चीख कर जगाये देती हैं। कितना बड़ा अन्याय कर रही हैं आप और वह भी अपने पूज्य पिताजी के साथ। है न ? उत्तर तो दीजिये।”

“क्या आप चुप नहीं रहेंगे सुधीबाबू ?”

“चुप मैं अपनी मर्जी से रहता हूँ किसी की आँखों के लाल ढोरे देखकर चुप रहने का मुझे अभ्यास नहीं है।”

सुनकर क्रोध में पैर पटकती मैं बाहर जाने लगी तभी कण्ठ में अति मिठास भरकर बोले—

“लिली ! सुनो, एक अति आवश्यक बात करनी है।”

“और अब तक कैसी बातें कर रहे थे ?”

“वह तो मात्र विनोद था। कितने दिन हो गये गुम-सुम रहते। सोचा, आज तुम्हारी बारबार की असफलताओं के प्रति संवेदना के दो शब्द ही कह आऊँ।”

सुनकर मैं बिना कुछ कहे क्रोध में काँपती कमरे से बाहर निकल आयी।

मैं सीधी पिताजी के कमरे में गयी। पिताजी जाग चुके थे। कमरे में पहुँचते ही बोले—“कौन है बेटी ?”

“सुधीबाबू !”

“सुधीबाबू ?”

“हाँ, पिता जी !”

“जरा बुला तो बेटी ! कैसे बच गये ?”

मैंने राधू के द्वारा सुधीबाबू को बुलवा लिया । सुधीबाबू पिताजी के पास पड़ी कुर्सी पर बैठ गये । यह देखकर मैं गुस्से में भर उठी कि उन्होंने पिताजी से किसी भी प्रकार का अभिवादन तक नहीं किया ।

पिताजी ने कहा—“सुधीबाबू !”

“जी !”

“क्या अब भो तुम बिटिया पर क्रोध किये जा रहे हो ?”

“नहीं, क्रोध करने के कारण का तो स्वतः समाधान हो गया ।”

“सो कैसे हुआ सुधीबाबू ?”

“बात यह थी कि हम दोनों ने कल अजीत की खिड़की पर मेरी हत्या के लिए किये जाने वाले षड्यन्त्र की बात सुन ली थी । अजीत मेरे मारने के लिए मि० स्मिथ को भेज रहे थे । यदि लिली भी उसमें सम्मिलित होती तो स्मिथ को फिर न भेजती पर स्मिथ हमारे यहाँ पहुँचा था । अब लिली के लिए मेरे मन में कुछ नहीं है ।”

“सावधानी से जागते रहे होंगे ।”

“मैं तो कमरे में था ही नहीं ।”

“फिर वह किसे मारकर आया था ?”

“बात यह हुई कि मैंने अपनी रजाई के नीचे कम्बल को इस प्रकार रख दिया था जैसे रजाई में कोई आदमी सो रहा हो ।

स्मिथ ने कमरे में जाकर टौर्च से प्रकाश किया । मैं बाहर एक स्थान पर छिपा खड़ा था । उसी प्रकाश में उसने छुरा निकाल कर कल्पित मानव की गर्दन में भोंक दिया । तभी आकर मैंने उसकी गर्दन दबोच ली ।

उसने बताया कि इस हत्या के लिए वह दो हजार ले चुका है और अभी तीन हजार मिलने शेष हैं । साथ ही गिड़गिड़ाकर

उसने अपनी घर-गृहस्थी की विवशताओं की कहानी भी संक्षेप में कह सुनाई ।

मैंने उससे कहा कि “भविष्य में वह हत्याएँ न करे ! साथ ही यह भी राय दी कि वह गरीब हैं सो जाकर मेरी मृत्यु की बात कहकर अपने शेष तीन हजार रुपये भी ले आये । कहिये ठीक किया न मैंने ?” कहकर वे हँसने लगे फिर गम्भीर होकर बोले—

“भविष्य में हत्याएँ न करने का उसने वायदा तो किया है, किन्तु वह मानेगा नहीं । इस कार्य को उसने रुपये कमाने का पेशा बना लिया है ! या यूँ कहिये कि यह उसका अपना बिजनेस है ।”

“सुधीबाबू ! आपने उसे पुलिस में क्यों नहीं दे दिया ?”

“मैं उसे पुलिस में देने वाला कौन था ? वह तो ईमानदारी से छुरा मारता है, सामने खड़े होकर एक-दो के प्राण ले लेता है । बस, इससे अधिक बेचारा कुछ नहीं करता । मैं तो उससे भी बड़ा घातक उन लोगों को मानता हूँ जो दिन-रात लाखों-करोड़ों मानवों का रक्त चूस-चूस कर निर्जीव लोगों को अँधेरी भोंप-ड़ियों, सड़क की पटरियों-फुटपाथों पर फेंके जा रहे हैं—

पिछले महीने जाने कितने नर-नारी और नन्हें-नन्हें बच्चे हैजे के शिकार हो गये । चीखते-पुकारते, विलविलाते प्राण तज गये । उनकी उन हत्याओं के लिए किस-किस को पुलिस के हवाले किया जा सकता है ?”

“यह तो विधि का विधान है सुधीबाबू ! उन मौतों के लिए कोई कैस उत्तरदायी हो सकता है ?”

“इसके लिए उत्तरदायी हैं वे लोग, जो दिन-रात मोटे गद्दों पर पड़े रहते हैं और कड़ा परिश्रम करने वाले अपने मजदूरों को मात्र इतने पैसे देते हैं कि जिससे वे किसी प्रकार अगले दिन मिल की ड्यूटी निभाने के लिए जीवित रह सकें । औषधि, उपचार

के लिए उन्हें कोन देता है पैसा ? तो क्या इन हत्याओं के लिए वे पूँजीपति ही जिम्मेवार नहीं हैं जो उन्हें कम वेतन देकर उनका रक्त चूसते जा रहे हैं ?”

सुनकर पिता जी चुप हो गये, और मैं मन ही मन कुढ़ी जा रही थी कि सुधीबाबू ने मुझे क्षमा कर दिया है किन्तु बताया तक नहीं और उल्टा असफलताओं के लिए संवेदना की बात कह कर जलाते ही रहे। जी चाहता कि कब वे वहाँ से उठें और कब मैं उनके हाथों को पकड़कर भ्रूणमोह डालूँ।

तभी पिताजी ने कहा—“सुधीबाबू ! मैं किसी भी प्रकार तुम से सहमत नहीं हो पाता।”

“होना भी नहीं चाहिए। सहमत होने पर इतनी ऊँचाई से उतरकर नीचे जाना होगा, कोठी से निकलकर सीधा भोंपड़ियों में।”

“न्याय के लिए नीचे जाने से मैं नहीं डरता सुधीबाबू ! किन्तु अमीरी और गरीबी तो भगवान् की बनायी हुई बात है, अपने-अपने कर्मों का भोग है। इसमें किसी का क्या दोष ?”

“जी, किसी युग में भगवान् की रचना ही इसलिए हुई थी कि भगवान् का आविष्कार करने वाले पुजारी और शासक मिलकर समूची मानव-जाति के विरुद्ध पड़्यन्त्र रचें। सामूहिक एवं वैधानिक शोषण करें और कोई चीख भी न सके।

इंग्लैंड में भी यही हुआ था। आप जानते हैं कि विशप ने राजा को भगवान् का अंग घोषित किया और जनता राजा के सारे अन्याचारों को सदृश शताब्दियों तक तिल-तिल धुलती रही किन्तु जब जनता ने इस सत्य को पहिचाना तब फाँसी देकर इंग्लैंड के राजा चार्ल्स सैकण्ड की गर्दन मरोड़ दी थी।

जनता के नेता क्रोमवेल ने राजा को फाँसी पर चढ़ाकर समूचे विश्व के सामने इस सत्य का परीक्षण किया था कि

राजा ईश्वर का अंश है या राजा भी साधारण मानव है।

इसी प्रकार रूस ने भी अपने देश के राजा जार को फाँसी पर चढ़ाकर घोषणा की कि सम्पत्ति पर एकाधिकार रखने का हक किसी भी व्यक्ति विशेष को नहीं हो सकता। समूची सम्पत्ति जनता की है। इसलिए जनता को बिना किसी भेदभाव के उसका समान रूप से उपयोग करने का अधिकार है। इसीलिए उस देश ने भगवान् और पूँजीपति दोनों को ही मिटा डाला है।”

“तो क्या आप भगवान् को भी नहीं मानते?”

“मेरे मानने न मानने की बात जाने दीजिये, मैं उस देश की बात कर रहा हूँ जिसने अपने यहाँ से भगवान् को देश-निकाला दे दिया है।

इस देश में भी शताब्दियों तक ब्राह्मण और राजा ने मिल कर जनता का शोषण किया है, किन्तु अब यहाँ की जनता ने भी उस सत्य को पहिचान लिया है, अमीरी-गरीबी को भगवान् की देन न मानकर पूँजीपतियों की देन मानने लगी हैं। इसीलिए आज का मजदूर हड़ताल के अस्त्र द्वारा अपने वेतनों की बढ़ोत्तरी और सुख-सुविधा की माँग कर रहा है।”

“सुधीर्वाणू! यह तो सचमुच ही तुम्हारा एकांगी विचार है। भारत के ऋषि-मुनियों द्वारा युग-युगों से की जाने वाली साधना और उनके तत्त्वदर्शन को जनता के विरुद्ध राजा के साथ किया गया मात्र षड्यन्त्र कहकर आप उतने बड़े सत्य को यूँ ही कैसे उड़ा सकते हैं?”

“यह मेरे उड़ाने न उड़ाने की बात नहीं है। मैं समूची जनता की बात कर रहा हूँ। जब जनता ने देखा कि भगवान् भोंपड़ियों और दरिद्र भक्तों की कुटियों को छोड़कर ऊँचे मन्दिरों में जा बसे हैं तब उन्होंने भी भगवान् के लिए अपनी भोंपड़ियों के द्वार बन्द कर लिये।”

“सुधीबाबू, ऐसा यूरोप के किसी देश में हो सकता है, किन्तु ऋषि-मुनियों की इस आर्य-भूमि में ऐसा कभी नहीं होगा। कभी नहीं।”

“कबूतर के सामने जब अचानक बिल्ली यमदूत बनकर आ बैठती है तब विवश कबूतर आँखें बन्द करके कल्पना करता है कि बिल्ली सामने नहीं है। वह आँखें बन्द किये बिल्ली के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता, किन्तु उसके मुँह में गर्दन जाते ही वास्तविकता का ज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

सो इस तथ्य को आप भी तभी तक अस्वीकार कर सकेंगे जबतक वह समय इस देश में नहीं आ जाता। आज समस्त रूस, चीन और अन्य देशों के न जाने कितने नर-नारी इस सत्य में विश्वास करने लगे हैं। सो क्या आप नहीं जानते?” कहकर सुधीबाबू चुप हो गये।

तब लिली के पिताजी ने खिड़की की ओर शून्य दृष्टि से देखते-देखते कहा—“सुधीबाबू! जब तक जीवित हूँ तब तक जानना भी न चाहूँगा।”

“अच्छा जाने दीजिये उस बात को, लिली से सुना था कि आपकी तबियत ठीक नहीं है। ऐसी दशा में किसी विषय की मीमांसा करना आपके स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं रहेगा!”

“नहीं सुधीबाबू, अब मैं बिल्कुल ठीक हूँ। अकेले मन नहीं लग रहा था; अच्छा हुआ कि तुम आ गये।”

तभी द्वार पर किसी के आने की पग-ध्वनि सुनाई पड़ी। मैं बाहर आकर देखने लगी और ज़ार से बोली—

“हलो ऊषा ! आ-आ। कितने दिन हो गये तुम्हें बुलाते-बुलाते। पिताजी की तबियत ठीक नहीं है। अन्दर आ जा।”

मैं ऊषा को लेकर अन्दर आई। वह वहाँ सुधीबाबू को देख कर पहिले ठिठकी, फिर चुपचाप मेरे पास ही सोफे पर बैठ गयी।

ऊषा ने सुधीबाबू को नमस्कार भी नहीं किया। तभी सुधी बाबू ने हँसते-हँसते कहा—“कहिये ऊषा जी ! आपने भी मेरे द्वारा दिया गया बहुत-कुछ साहित्य पढ़ा है, कुछ याद है या सब कुछ भूल गई ?”

ऊषा ने अति उपेक्षा से उत्तर दिया—“कुछ कद नहीं सकती।” सुनकर सुधीबाबू जोर से हँसते-हँसते बोले—“ऊषा ! दोष तुम्हारा नहीं है, दोष है उस पूँजीवादी व्यवस्था का जिसमें सभी अपनी सुविधा-असुविधा का ध्यान रखकर थोड़ा याद रखते हैं, थोड़ा भूल जाते हैं।”

मारे क्रोध के ऊषा का मुँह लाल हो गया। तभी द्वार पर एक अतिकमनीय चेहरा आ खड़ा हुआ। मैं उठकर—

“आइये नीलिमाजी !” कहती नवागन्तुका को कमरेमें ले आयी।

मैंने नीलिमा का परिचय कराया, तभी सुधीबाबू हँसते-हँसते बोले—“परिचय अभी अधूरा है। कानोड़िया महाशय ! यह मेरी प्रथम पत्नि हैं।”

सुनकर मुझे लगा जैसे सहस्रों कनखजूर सुरसुराते मेरे कानों में चले जा रहे हैं। पिताजी ने गम्भीर होकर कहा—

“सुधीबाबू ! तो क्या दूसरी भी शादी की थी आपने ?”

“जी की थी। दूसरी पत्नी का एक बच्चा भी है।”

“वे कहाँ हैं ?”

“कानपुर के एक सेठ के यहाँ चली गयीं।”

“क्यों ?”

“पूँजी की ओर मन डगमगा गया।”

“शादी हो गयी ?” “जी ! और उनके बच्चे को पाल रही हैं यही नीलिमा देवी !”

तभी पिता जी नीलिमा की ओर देखकर बोले—“सो कैसे

सह पाती हो बेटी ? बुरा नहीं लगता ?”

“बुरा क्यों लगेगा ? जिसके कभी इतनी निकट रही हूँ सो उसे इतनी जल्दी कैसे भुला दूँ ?”

“किन्तु जिसने विच्छेद की यातना भी दी हो, उसे तुम क्षमा कैसे कर सको बेटी ?”

“यातना तो किसी ने नहीं दी । जब हम दोनों ने ईमानदारी से ऐसा समझा कि हम दोनों ही कुछ कारणों से पति-पत्नी के सम्बन्धों को नहीं निभा सकते तो सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया । उस सम्बन्ध को तोड़ देने पर भी हमारी मित्रता पर तो आँच नहीं आयी ।”

“बेटी ! यूरोप में मैं भी रहा हूँ पर ऐसा तो मैंने वहाँ भी नहीं देखा ।”

तभी ऊपा हाँफती-सी बोली—“चाहे आपने समूचे यूरोप में ऐसा न देखा हो, किन्तु यह सब कुछ कर दिखाने की शक्ति इस देश के निवासी अकेले मुधीवाबू में है ।”

उत्तर दिया नीलिमा ने । हँसती हुई बोले—“अकेले मुधीवाबू में नहीं मुझे भी साथ जोड़ लीजियेगा ।”

नीलिमा ने जिस ढंग की बात की थी, उससे पिता जी भी बिना हसे न रह सके । किन्तु मैं किसी भी प्रकार हँस न सकी । दो शादियों की बात सुन मुधीवाबू के लिए मेरा मन घृणा से भर उठा था ।

तभी पिताजी दोनों हाथ जोड़कर माथे से लगाते बोले “भगवान् आप दोनों का मंगल करें । बेटी ! चाहे कुछ ।”

बोच ही मैं नीलिमा बोल पड़ी—“अच्छे-बुरे के कर्ता हमों हैं चाचा जी ! अपनी बुराई भगवान् के माथे पटकने का हमें अभ्यास नहीं है ! अपना मंगल-अमंगल हम स्वयं ही करते

हैं। भगवान् की इस थोथी मरीचिका के पीछे भागने में कम-से-कम हमारी आस्था नहीं है।

अच्छा चाचा जी ! अब चलती हूँ। कालेज का समय हो गया। लिली ने बुलाया था सो चली आयी थी।”

मैं अब तक नीलिमा की बातें अचरज के मारे मुँह फाड़ सुने जा रही थी। जब जाने के लिए उठकर वे खड़ी हो गयीं, तब मुझे अपने दायित्व का ध्यान आया और हाथ पकड़कर बोली “सो नहीं होगा नीलिमा जी ! चाय तैयार है।

“राधू ! ओ राधू ! जल्दी चाय ला।”

“अच्छा ! मैं रुक जाती हूँ।” घड़ी देखकर बोली—“अभी पन्द्रह मिनट का माजिन है।”

राधू नाश्ते का सामान रखकर चला गया। वे प्यालों में चाय डेढ़लन लगी, तभी पिताजी बोले—

“किसी कॉलेज में पढ़ाता हो बेटी ?”

“जी स्टीफैन्सन कॉलेज में फिलोसफीका विषय लेती हूँ।”

नीलिमा देवी चाय पीकर जाने के लिए उठ खड़ी हुई। तभी पिता जी ने उन्हें अपने पास बुलाया और उनके दोनों हाथ अपने हाथों में दबाकर बोले—“बेटी ! कभी-कभी आ जाया करो। चाहें मैं तुम्हारे विचारों से कभी सहमत न हो पाऊँ पर इतना मे शपथपूर्वक कह सकता हूँ कि सौत के बेटे का लालन-पालन करने की ऐसी उदारता कभी किसी आस्तिक नारी में भी नहीं देखी गयी। सो बेटी न जानें क्यों ... ?” कहते-कहते उनका आँखें छलछलता आयी।

पिता जी के चरणों पर माथा टेकती वे बोलीं—“और चाचा जी, यह बात बिना कहे मैं भी न जाऊँगी कि मन में उठी बात इतनी सच्चाई से कहते मैंने कभी किसी आस्तिक को नहीं देखा।” कहते-कहते सभी को नमस्कार करके वे कमरे से

बाहर चली गयीं ।

मैं ऊपा को लेकर उन्हें नीचे तक छोड़ने चली गयी । जब लौटी तो पिता जी के कमरे में न जाकर हम दोनों अपने कमरे में ही चले गये ।

सोफे पर बैठती बैठती ऊपा बोली—“डियर ! आज कोठी का रंग ढँग कुछ बदला-सा लग रहा है । चारों ओर सन्नाटा-सा है । कहीं भी कोई नहीं दिख रहा है ।”

“ऊपा ! जिसके बिना तुझे सारी कोठी में सन्नाटा दिख रहा है उन्हीं के सम्बन्ध में तुझ में आज कुछ कहना है ।”

संज्ञे में मैंने अजीत के सम्बन्ध की सारी कहानी कह सुनायी । कहानी सुनते-सुनते कई बार उसका आँख भर-भर आती थी । फिर हत्या की बात सुनकर उसके चेहरे पर घृणा का गहरी रेखायें खिच उठी ।

अजीत की बात सुनकर ऊपा को ऐसा गहरा धक्का लगा कि वह किसी प्रकार भी उस कोठी में फिर क्षण भर के लिए भी न ठहर सकी । हवा में उड़ती पर्त का भौंति सीढ़ियों से उतरकर चली गयी ।

जब पिताजी के कमरे में आयी तो देखा सुधीबाबू और पिताजी अति गम्भीर बैठे हैं । मैं भी चुपचाप पिताजी के पास ही बैठ गयी ।

पिताजी ने मेरी ओर देखकर कहा—“बेटी ! मैंने सुधीबाबू से सब-कुछ कह दिया है । इनकी राय है कि अजीत और उसका माँ को पुरानी कोठी में भेजकर कुछ मासिक रुपये बाँध देना चाहिए ।”

“पिताजी ! ठीक यही बात मैं सोच रही थी, किन्तु यदि वे न मानें तब क्या करना होगा ?”

इसका जवाब दिया सुधीबाबू ने—“उसका बन्दोबस्त मैंने कर

लिया है। जिन लोगों पर अजीत बाबू को विश्वास है और जो उनका साथ दे रहे हैं, उन्हीं को जब यह पता चलेगा कि अजीत बाबू का मिल से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है और पूँजी के विष की थैली उस साँप के मुँह से निकाल दी गयी है तो फिर उससे न कोई आतंकित होगा और न 'नागदेवता' कहकर दूध का कटोरा लिये उसकी कोई पूजा करेगा।

“निविष सर्प की भाँति कुछ दिनों मुन्कारेगा फिर सदा-सदा के लिए टूट जायेगा और ...”

बीच ही में पिताजी बोले—“मैं अभी मिल की मैनेजरी से उसे डिसमिस करने का आर्डर भिजवा रहा हूँ।

मैनेजर के स्थान पर मैंने सुधीबाबू को नियुक्त करने का निश्चय किया है। उस दुर्घटना के बाद मैं इसी निर्णय पर पहुँच पाया हूँ। तेक्यों बेटी, तुम्हें तो इस व्यवस्था में कोई आपत्ति न होगी?”

“लेकिन पिता जी ! सुधीबाबू तो ...”

“हाँ बेटी ! इनकी कुछ शर्तें हैं, और मैंने उन्हें मान लिया है। इनका कहना है कि एक निश्चित पूँजी से अधिक मिल-मालिक को नहीं मिलनी चाहिए। शेप लाभ मजदूरों को योग्यतानुसार निश्चित अनुपात से बाँट देना चाहिए। मैंने उनकी शर्तें मान ली हैं।”

मेरे उक्त निर्णय पर हस्ताक्षर कराके यह अभी मिल जायेंगे और सारी व्यवस्था कर देंगे। सब से पूर्व हमें इन दोनों को कोठी से बाहर भेजना है।”

“कौन जायेगा उन लोगों से बात करने ?”

“मैं उन दोनों को यहीं बुलवा लेता हूँ।” कहकर पिताजी ने राधू को बुलाया और उन्हें बुलाने के लिए एक चिट लिखकर उसे दे दी।

हम सब उन लोगों की प्रतीक्षा करते कमरे में चुपचाप

बैठे थे।

थोड़ी ही देर में अजीत और उसकी माँ दोनों आकर कमरे में बैठ गये। वहाँ सुधीबाबू को बैठा देख अजीत का समस्त मुँह सफेद पड़ गया, लगा जैसे उसने सुधीबाबू का प्रेत देखा हो। अजीत की माँ का चेहरा इतना सुख हो उठा था जैसा कि इससे पूर्व मैंने कभी न देखा था।

बैठी-बैठी सोचने लगी - जीवन में जाने कितनी मनो-विज्ञान और सामुद्रिक शास्त्र पर बड़ी-बड़ी पोथियाँ पढ़ी थीं। किन्तु आज तक जिस चेहरे को न समझ पायी थी, उसे आज पहिली बार कुछ-कुछ समझ पा रही थी।

अपने चेहरे पर कितने वात्सल्य और गहरी करुणा की कृत्रिम रेखाएँ खींच-खींच कर जो जीवन भर मुझे भुलावे में डाले रही, सो उसके वास्तविक रूप की भाँकी देखकर न जाने क्यों मन का एक प्रकार की तृप्ति-सी हो रही थी।

पास ही अजीत बैठा था। बड़े भाई के स्थान पर प्रतिष्ठित होकर जो जीवन भर मुझपर जोर-जबरदस्ती दिखाता आया था, जिसने पिछले दिन कितने वीभत्स एवं कुत्सित आरोप उस पर लगाये थे, सो वही नारकीय कीड़ा सिर झुकाये मेरे सामने बैठा था—नीच ! हत्यारा !!

उन दोनों का देख-देख कर मेरा रोम-रोम जला जा रहा था। किसी भी प्रकार वहाँ बैठा न जा रहा था। उसकी माँ के आरक्त चेहरे का देखकर सोचने लगी, क्या यही था वह चेहरा जिसमें मैं अपनी माँ की छाया देखती आ रही हूँ ? क्या यही हैं वे हाथ, जिन्होंने मेरी माँ की हत्या की थी ? तभी मैं दीवाल पर टंगे अपनी माँ के चित्र को देखने लगी।

उस चित्र को उस दिन सुबह ही मैं कोने वाले कमरे से ले आयी थी और ठीक द्वार के सामने टाँग दिया था। कितनी देर

तक उस चित्र को छाती से चिपटाकर रोयी थी। उस चित्र में माँ की आँखों में वात्सल्य और ममता उमड़ी-सी पड़ रही थी और दूसरी ओर अपनी चमकती आँखों वाली माँ की प्राण-घातिनी बैठी-बैठी मुझे घूर रही थी।

तभी पिताजी ने गुरु गम्भीर स्वर में कहा, “अजीत की माँ ! सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय की भी मीमांसा बिना किये मैंने कुछ ऐसे निर्णय किये हैं, जिनके करने के लिए आज बाध्य हो गया हूँ।

आज अजीत ने मेरे प्राण ले लेने में अपनी आँखों से कोई कोर-कसर नहीं उठा छोड़ी थी। अपने विगत पौःजों की रक्षा के अभ्यास में ही मैं प्राण बचा सका था। कल रात अजीत ने सुधीबाबू के प्राण ले लेने के लिए पौंच हजार रुपये खर्च किये हैं। और आज से लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व जो कुछ भी तुमने किया था सो उस डाक्टर ने मृत्यु से पूर्व सब कुछ मुझे बता दिया था, किन्तु मैंने कभी उस बात को प्रगट नहीं होने दिया।”

यह सुनकर क्षण भर के लिए उसका चेहरा फट पड़ा गया किन्तु तुरन्त वह आरक्त हो उठा। पिताजी कह जा रहे थे—

“केवल इसलिए कि जो कुछ हो चुका है उसको लेकर वर में कटुता न बढ़े, मैं अब तक चुप रहा। किन्तु पिछली रात जिस बूढ़े बकरे को काटकर उसके माँस को खाने की तुमने कामना की थी, उसे अब मैं पूरा न होने दूँगा।”

अजीत की माँ का वह आरक्त चेहरा और अधिष्ठित मुख होता जा रहा था, लगा जैसे उसके चेहरे के रोम-रोम में रक्त छलक उठा है। उसकी आँखों की चमक बढ़ती जा रही थी। कुचली गई सर्पिणी की पूँछ की भाँति उसकी भृकुटी के छोर बार-बार हिल उठते थे।

तभी पिताजी का स्वर और अधिक ऊँचा हो उठा, वे बाले—“अजीत की माँ ! राजलक्ष्मी की बात को लेकर यदि तुमने मेरे कुटुम्ब की मान-मर्यादा को नष्ट करने का प्रयत्न किया तो उसका लिए दण्ड देने की शक्ति अब भी इन हाथों में है, यह कभी न भूल जाना ।

अब तक तुमने मेरा वह रूप देखा है जिसमें दया, माया, करुणा तथा कृपा थी और यदि अब तुम मेरा दूसरा रूप भी देखना चाहो तो उसका लिए भी मर्दा तैयार रहूँगा ।” फिर कुछ देर चुप रहकर बोले—“अजीत, इनर आओ !”

अजीत ने जैसे ही उठकर पिताजी के पास आना चाहा वैसे ही उसकी माँ ने कहा—“क्या है ?”

“अजीत का न आज मैंने जरी से दिसमिस करता हूँ, उसी आँख पर हस्ताक्षर कराने हैं ।”

“वह नहीं करेगा ।”

“तब तुम दोनों का एक घंटे के भीतर इस कोठी को छोड़कर उस सड़क पर जाकर खड़ा होने के लिए मैं विवश कर दूँगा ! ठीक वहीं जहाँ आज से बीस वर्ष पहिले अजीत को छाती से चिपटाकर जाड़े में काँपता आ खड़ी हुई थी । ठीक उसी जगह, समझा ?

अजीत की माँ ! मैं चाहता हूँ कि बात न बढ़े और तुम दोनों को चुपचाप पुरानी कोठी में भेज दूँ । खर्च के लिए पाँच सौ रुपये मासिक तुम्हें सदा मिलते रहेंगे ।”

तभी अजीत की माँ दौत पीसती बोली—“न मुझे पुरानी कोठी चाहिए न आपका पाँच सौ रुपया ! अजीत आपका ही पत्र है इसका बहुत से प्रमाण मेरे पास है । हम लोग यहीं ... ”

बाच ही में पिता जी गरज पड़े—“अजीत की माँ, यह कहते तुम्हारी जीभ टूटकर गिर क्यों नहीं जाती ?”

“यह तो कोर्ट में पता चलेगा कि किस की जीभ टूटकर गिर जाती है ।”

“चुप रहो !”

तभी अजीत की माँ दोनों मुद्रियाँ बाँधकर पिताजी को धूरती-सी बोली—“संठ जी ! मैं वह आम नहीं हूँ, जिसे चूसकर आप फेंक देंगे । मैं मगरमच्छ के दाँतों की वह जकड़ हूँ जो एक बार बाँधकर सहज ही नहीं छूटती ।”

“चुप रहो ! मैं चाहूँ तो तुम्हें मक्खी की भाँति मसल सकता हूँ, पर मसलकर मैं उतना छोटा नहीं बनना चाहता । तुम्हें अब सीधे कोठी से बाहर जाना होगा । एक बार कमरे में भी न जा सकोगी ।

चाहे कितना ही बड़ा अन्याय माना जाये, पर तुम हो इसी योग्य । निकल जाओ इस कमरे से ।” कहते-कहते पिताजी खड़े हो गये ।

दोनों हाथों के पंजे खोलकर बोले—“चले जाओ ! नहीं तो तुम-जैसे कृतघ्नों की गर्दन मरोड़ने में मुझे देर नहीं लगेगी ।” कहते-कहते वे अजीत की माँ की ओर बढ़े ।

तभी सुधीबाबू ने पिताजी को रोककर चारपाई पर बिठा दिया और बोले—“यह आप लोगों का आपसी मामला है, इसलिए बीच में कुछ भी कहना ठीक न रहेगा, किन्तु जैसी परिस्थिति बन चुकी है उस में मिस्टर अजीत और उनकी माँ को कोठी से बाहर जाना होगा, इसमें किसी को तनिक भी सन्देह नहीं रहना चाहिए ।

“मैं समझता हूँ अब तक अजीत ने मेरे बारे में बहुत-कुछ ज्ञान संचित कर लिया होगा । इसलिए वे हठ नहीं करेंगे ।”

मुनकर अजीत माँ की ओर देखने लगा और वह पाषाण-

प्रतिमा की भाँति चुपचाप बैठी थी ।

फिर पता नहीं क्या सोचकर अजीत की माँ भी सिर झुकाये चुपचाप बाहर निकल गयी । तभी सुधाबाबू ने ऊपर के बराण्डे से कहा—“मिस्टर अजीत ! आपका थोड़ा-सा सामान भी यहाँ है वह भी साथ लेते जाइये ।” सुनकर वे दोनों वहीं गेट पर रुक गये ।

पता नहीं क्यों जो पिता जी अब तक गुस्से में काँप रहे थे वही अग्न उदास-मे तकिये पर गान रक्खे निर्जीव-निष्प्राण-से पड़े थे ।

वह मानान बाहर भेजा जा रहा था तभी एक अति वृद्ध मस्त्रान्त पुरुष उम गेट के अन्दर आये और बोले—“रामनाथ है ?”

पिता जी के नाम को ‘रामनाथ’ मात्र कहने वाले यह कौन हो सकने हैं यही सोचता-मोचतो मैं नाचे गई और अति आदर-पूर्वक उन्हें पिताजी के कमरे में ले आयी ।

पिताजी आँखें बन्द किये पड़े थे । उन वृद्ध पुरुष ने अति-कोमल कण्ठ से कहा—

“रामनाथ !”

उस कण्ठ को सुनकर पिता जी ऐसे उठ बैठे जैसे किसी दुःस्वप्न से जाग पड़े हों । आगन्तुक की ओर देखते ही पिता जी उठे और उनके चरणों की पगधूलि लेकर चारपाई पर बिठाते बोले—“लिली ! तेरे बाबा आये हैं ।” फिर उनकी ओर मुड़कर पिताजी ने कहा—“बापू ! यही लिली है !”

बाबा अति-क्लान्त से दिख रहे थे । उन्होंने बिना कुछ कहे आँखों के संकेत से ही मुझे अपनी ओर बुलाया ।

मेरा सिर अपनी छाती से चिपटाकर बोले—“वह रुठकर चली गयी, किन्तु बेटी ! तू भी बिल्कुल राजलक्ष्मी ही है ।

ऐसी ही.....।” कहते-कहते उनकी आँखें छलछलानी आरंभ ।
उनका गला रुँध गया । फिर वे कुछ भी न बोल सके ।

मैं बैठी-बैठी सोचने लगी—जिनके इस घर में आने के कारण मेरे स्वाभिमानी बाबा ने इस घर का अन्न-जल वर्षों तक ग्रहण नहीं किया सो ठीक उसी समय कैसे आये जब वे दोनों इस घर से निकाले जा रहे थे ।

अपनी इस जिज्ञासा को मैं किसी भी प्रकार न रोक सकी । बाबा की छाती पर सिर टिकाये ही बोली—“बाबा ! आप जानते हैं इस घर से आज किसका सामान निकाला जा रहा है । और वे फाटक पर दो कौन खड़े थे ?”

“नहीं बेटी ! मैं क्या जानूँ ? कौन है ये लोग ?”

तभी मैंने पिताजी की ओर देखा—वे दूसरी ओर जानबूझ कर देख रहे थे ! उससे मुझे लगा कि जो बात मैंने अचानक छेड़ दी सो उन्हें अच्छी नहीं लग रही थी ।

मैंने बाबा की बात का उत्तर दिया—“यही थे वे लोग जिनके कारण आज तक आप अपनी इस बेटी को भूले रहे ।”

सुनकर बाबा ने अपने दोनों हाथ माथे से लगा लिये और बोले—“कल सपने में मैंने देखा कि रामनाथ सकट में है सो जिस प्रण को न तोड़ने के लिए मैंने इस बुढ़ापे में कैसे-कैसे कष्ट उठाये उसी अपने प्रण को तोड़ने में न जानें क्यों एक क्षण भी न लगा ।

अब यह जानकर मेरा रोम-रोम आनन्द में डूबा जा रहा है कि मेरे अन्तर्यामी ने मुझे बचा लिया है । उस त्रिलोकी ने इस बूढ़े के प्रण को बचा लिया है । मेरा पैर इस कोठी में तभी पड़ा जब वे दोनों बाहर जा चुके हैं । बेटी ! ” कहते-कहते भगवान् पर अटल श्रद्धा रखने वाले मेरे उन बाबा की आँखें छलछलानी आरंभ ।

कुरते के छोर से आँखें पोछते हुए बोले—“बेटी ! आज के पढ़े-लिखे इसे केवल संयोग कहकर भूल जायेंगे, किन्तु मैं जानता हूँ जो कुछ आज तक हो चुका है, जो हो रहा है या जो होने वाला है, वह सब उसी के संकेत पर हो रहा है” कहते-कहते उन्होंने अपने दोनों हाथ उठाये और मस्तक से लगा लिये ।

दूसरे दिन मैं खा-पीकर अपने कमरे में लेटी थी। किसी भी प्रकार मन नहीं लग रहा था। पिताजी काम-काज देखने मिल चले गये थे। तभी मैंने नीलिमा को लेने के लिए शोफर के साथ गाड़ी भेज दी।

थोड़ी ही देरमें वह आ गयीं। वह स्लेटी रंग की साड़ी, सफेद ब्लाउज तथा सफेद चप्पल पहिने थीं। आज उन्होंने कान में सुनहली रिंग पहिन रक्खे थे, जिससे वे किन्नर प्रदेश की सुन्दरी-सी दिख रही थीं। उनके माथे का वह गोल लाल टीका उनके सौन्दर्य को और बढ़ा देता था।

जिस सहज स्नेह से आते ही उन्होंने मुझे अपनी बांहों में लपेट लिया सो बहुत ही अच्छा लगा। बांहों में बाँधी-सी मुझे लगा जैसे जीवन में पहिली बार मुझे सहज स्नेह की अनुभूति हुई है। बहुत देर तक वे मुझे इसी प्रकार अपनी छाती से चिपटाये रहीं।

मैं सोचने लगी—जीवन में ऐसा क्यों होता है कि कभी-कभी अपरिचित भी प्रथम क्षणों में ही युग-युगों के परिचित-जैसे प्रतीत हो उठते हैं और कुछ व्यक्ति जीवन भर साथ रहकर भी सदा अपरिचित ही से रह जाते हैं।

बहुत देर तक हम दोनों बिस्तर पर एक दूसरे के हाथों में हाथ ढाले चुपचाप लेटे रहे।

मुझे नीलिमा से बहुत सी बातें पूछनी थीं, किन्तु कुछ भी शुरू न रहा था कि बात कहाँ से शुरू की जाये। तभी मैंने उनके

कान पर मुँह रखकर कहा—आपको 'दीदी' कहूँ तो बुरा तो न मानेंगे ?

मेरी बात का उत्तर न देकर उन्होंने मेरे दोनों हाथ कसकर पकड़ लिये, सो मुझे लगा जैसे उनका मौन स्वीकृति हो। मैंने अपना समस्त साहस बटोरकर पूछा—“दीदी ! एक बात पूछूँ ?”

“कहो ?”

“आप बुरा तो नहीं मानेंगी ?”

वे होठों पर सुवनमोहिनी मुस्कान बिखेरती बोलीं—“मैं जानती हूँ तुम क्या पूछोगी ?”

बड़ी कठिनाई से मैंने कहा—“बताइये मैं क्या पूछना चाहती हूँ ?”

“पूछोगी मेरे और सुधीबाबू के सम्बन्ध की बात ?”

“हाँ दीदी ! उस दिन जो तुमने कहा था, सा मैं किसी प्रकार भी नहीं समझ पा रही हूँ कि तुम उन्हें किस प्रकार क्षमा कर सकी होगी।”

सुनकर वे हँसने लगीं। हँसते-हँसते बोलीं—“लिली ! सभी की शादियों के भिन्न-भिन्न आधार होते हैं। मैं उन लोगों की बात नहीं करती जो विवाह केवल इसलिए करते हैं कि खाने-पीने, सोने जैसी वासना की तुष्टि भी शारीरिक माँग है।

मेरी और सुधीबाबू की शादी का आधार था एक दूसरे के अभावों का सम्पूर्ति। उन दिनों सुधीबाबू देश की राजनैतिक स्थिति से बहुत दुखी थे। उनकी सार-सँभाल करने वाला कोई भी उनके साथ न था।

मैं उनके साथ राजनैतिक षड्यंत्रों में वर्षों से काम करती आ रही थी। धीरे-धीरे हम दोनों ही मन-ही-मन दाम्पत्य-जीवन की कल्पना करने लगे। मैं सुधीबाबू की बात नहीं जानत

अपनी ही कहती हूँ कि इस एकमात्र कल्पना से ही मैं सिहर उठती थी।

एक दिन बात मैंने छेड़ी और सुधीबाबू की आँखें छलछला आयीं।”

मैं बोली—“बात आपने छेड़ी थी?”

“हाँ लिली ! प्रायः ऐसी बात आती है प्रेयस की ओर से, किन्तु सुधीबाबू :स दृष्टि से नारी अधिक और पुरुष कम हैं।”

सनकर मुझे हँसी आगयी। हँसते-हँसते बोली—“फिर दीदी?”

“फिर एक दिन तारों की छाया में हमारे दाम्पत्य-जीवन का प्रारम्भ हुआ।”

“किस रीति से आपने शादी की थी?”

“हृदय की रीति से। शादी के आडम्बर में हम दोनों का ही विश्वास नहीं था।”

“फिर दादा, विच्छेद कैसे हुआ?”

“ठीक वैसे ही जै। संयोग हुआ था।”

“समझी नहीं दादी।”

“तुम से कहा न ! एक दिन हम लोगों ने अपने अभावों की सम्पूर्ति के लिए दाम्पत्य-जीवन प्रारम्भ किया था और जब हम लोगों की समझ में आया कि वह दाम्पत्य-जीवन हम दोनों के विकास में बंधन होकर आता जा रहा है, हम दोनों की दिशाएँ भिन्न-भिन्न हैं, तभी हम दोनों ने उस गले की फाँसी-दा पत्य-जीवन—का विच्छेद कर डला।

हम दोनों का उद्देश्य था पारस्परिक सहयोग-सम्पूर्ति ! मात्र शादी हमारे लिए कोई महत्त्व नहीं रखती थी। इसीलिए विच्छेद के बाद भी हम दोनों मित्र हैं। मैं सम्झती हूँ यदि उस दिन विच्छेद न होता तो आज हम दोनों मित्र भी न रह पाते।”

“फिर दीदी ! सुनते हैं इससे पूर्व भी उन्होंने एक बार शादी की थी ?”

“जब पहिली शादी उनके सामने बंधन के रूप में आयी तो फिर दूसरी बार बंधन में क्यों बँधे ?”

“लिली ! शायद तुम नहीं जानती, सुधीबाबू जितने बड़े क्रान्तिकारी हैं शायद उससे भी बड़े कलाकार हैं। क्रान्तिकारी बने वे परिस्थितियोंवश, किन्तु जन्म से हैं वे कलाकार !

कलाकार के जीवन का आधार होता है सजीव प्रेरणा। जब उसके जीवन से प्रेरणा हट जाती है तब कलाकार भी मिट जाता है। प्रेरणा ही उनके जीवन में सब कुछ है।

सुधीबाबू ने जिनसे पहिली शादी की थी वे अति सुन्दरी थीं। उन्होंने उनसे शादी की थी उनके सौन्दर्य पर रीझकर ! और लिली, सौन्दर्य को स्थायी रखने के लिए चाहिए पलंग, मोटे गद्दे, ऐश्वर्य भरा जीवन, सुख-सम्पत्ति ! किन्तु सुधीबाबू के दुख-दैन्य भरे जीवन में वह कहाँ थी ! वे टिक न सकी और एक दिन सुधीबाबू को मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने वाले मृग की भाँति छटपटाता छोड़कर वे कानपुर के एक सेठ के साथ चली गयीं।

लिली ! उन दिनों सुधीबाबू एक फटा कुर्ता पहिने नंगे पैर, विक्षिप्तों की भाँति भटकते रहते थे ! एक दिन किसी मोटर गाड़ी से टक्कर खा गये। तब किसी तरह सड़क पर से उठा कर मैं उन्हें घर ले आयी। एक मास तक सार-सँभाल की। उन्हीं दिनों हम लोगों ने शादी की। फिर थोड़े दिनों बाद वे विदेश चले गये। एक वर्ष यूरोप का चक्कर काटकर गत वर्ष ही देश वापस आये हैं।

कभी-कभी मैं यह भी सोचती हूँ कि सुधीबाबू के अन्दर अभाव का ज बीहड़ है उसे भरने के लिए शायद उन्हें अभी

तक कोई उपयुक्त साथी नहीं मिला ।

जब से मैंने तुम्हें देखा तभी से मुझे ऐसा लग रहा है जैसे कहते-कहते उन्होंने मुझे अपनी बांहों में लपेट लिया और मैं मारे लाज के पानी-पानी हो गयी ।

मन में जाने कितनी बातें कितना उलझनें थीं जो मुझे चैन न लेने देती थीं । चाहती थी कि नीलिमा दीदी से सब-कुछ कहकर जी हलका कर लूँ ।

तभी उन्होंने मेरी ठोड़ी ऊपर की ओर उठाकर धीरे-से पूछा—“क्या सोच रही हो लिली ?”

लाज के मारे किसी भी प्रकार मेरा मुँह नहीं खुल रहा था, किन्तु जिस प्रकार नीलिमा ने पूछा उससे कुछ हिचक मिट-सी गयी और मैं पूछ बैठी—

“दीदी ! सोचती हूँ जिस बीहड़ और शून्यता को आप जैसी प्रतिभाशालिनी और किसी सेठ के पास चली जाने वाली वह रूपसी न भर सकी सो मैं कैसे भर सकती हूँ ?”

सुनकर वे हँसने लगीं । बोली—

“क्यों कैसे भर सकती हो सो मैं नहीं जानती, पर लगता ऐसा ही है ” कहकर वे चुप हो गयीं ।

फिर बोली—“लिली ! तुम नहीं जानतीं सुधीबाबू ने दूसरों के लिए, समाज के लिए, राष्ट्र के लिए कितना कुछ सहा है इसीलिए जब मैं उन्हें उदास देखती हूँ तो जीरा उठता है । सोचती हूँ तुम उनकी उदासी भेट सकती हो ।” कहते-कहते उनकी आँखें छलछला आयीं ।

“और दीदी ! जब मैं यह देखती हूँ कि सुधीबाबू ने इतना कुछ जिन लोगों के लिए सहा वं ही उनके प्राण लेने के लिए तय्यार हो उठते हैं, तब मुझे तो लगता है जैसे उन्होंने सब सहा है व्यर्थ ! निरुद्देश्य !! तब मुझे तो मानव में ही अविश्वास हो

बैठता है।

मैं समझ ही नहीं पाती दीदी ! कि इतने समझदार होकर भी सुधीबाबू किसान-मजदूरों के राज्य की मरोचिका के पीछे क्यों दौड़ रहे हैं ?”

“इस तरह न सोचो लिली ! जब तुम मानव ही में अविश्वास कर बैठोगी, तब तुम्हारे पास रह ही क्या जायेगा ? मानव पर अविश्वास कभी न करना लिली !”

“कहाँ कैसे नई ? जिस माँ ने, उसके साथियों और उसके बच्चों के प्राण बचाने के लिए हैजे-जैसी बीमारी में अपने प्राणों की चिन्ता किये बिना उन भोंरड़ियों में दिन-रात पड़े रहे, जिनके दुःख-दैन्य को मिटाने के लिए उन्होंने अपना मरणा जीवन ही दे दिया, सो वही माँ जो जब उनकी हत्या के पद्यन्त्र में मिल जाये तो दीदी ! मैं कैसे कर पाऊँ इस मानव में विश्वास ?

मेरे पिता जी की ही बात ले लीजिये। जाड़े की अँधेरी रात में भूखे-नंगे बच्चे को छानी से बिपटायें आने वाली को उन्होंने आश्रय दिया और अन्न में वही भित्तिारिन पिता जी की गर्दन कटवाने के लिए सामने आ जाये तो मैं ‘मानव’ कहे जाने वाले पशु में कैसे विश्वास कर पाऊँ ?”

मुनकर नीलिमा दीदी गम्भीर हो गयीं। उन्होंने अपनी बाहों के गुम्फन को ढीला करके कहा—“लिली ! मानव की इस पशुता के पीछे रहने वाले मूल कारण को तुम नहीं देख पाती ! इसीलिए ऐसा कह रही हो।

सोचो क्यों माँ ने नामक मजदूर ने अपने सहायक सुधीबाबू को छोड़कर अजीत का साथ दिया।

क्यों अजीत की माँ ने अपने रक्तक तुम्हारे पिता जी के प्राण लेने चाहे ?

दोनों के मूल में एक ही भावना थी, एक ही कारण था, एक

ही माँग थी—‘रक्षा का भाव’ ।

‘रक्षा का भाव’ है पूँजी में । बहुत सीधी-सी बात है कि यही पूँजी सुधीबाबू के पास नहीं थी और यह थी अजीत के पास । इसीलिए माधो ने अजीत का साथ देकर अपनी, अपने बाल-बच्चों की रक्षा करनी चाही ।

यदि तुम्हारे पिता जी समस्त सम्पत्ति का कानूनी अधिकारी अजीत को घोषित कर देते तो उनकी हत्या के लिए अजीत की माँ कभी प्रयत्न नहीं करती । वह सब कुछ कर रही थी अपने बच्चे के लिए, जीवन भर की सुरक्षा का वरदान दे देने के लिए ।”

“तो क्या संसार में सब कुछ रुपया ही है—मानवता-मनुष्यता और सत्-असत् कुछ नहीं ?”

“हाँ, लिली ! सुनने में यह बात चाहे कितनी ही बुरी लगे पर है सत्य ! एक ऐसी वास्तविकता जिसकी आज हम उपेक्षा नहीं कर सकते ।”

“फिर हमारे महाभारत और रामायण युग में यह बात वास्तविकता के रूप में हमारे सामने क्यों नहीं आती ?”

“सामने नहीं आती केवल इसलिए—कि उस युग के बारे में हम हैं मात्र श्रद्धालु । श्रद्धा का यह ऐनक हमें वास्तविकता के दर्शन नहीं करने देता । गुरु द्रोणाचार्य जैसा विद्वान अपने पुत्र अश्वत्थामा को दूध के अभाव में आटे का पानी पिलाता था फिर भी हम श्रद्धालु यह कहते नहीं अघाते कि उस युग में यहाँ इस देश में घी-दूध की नदियाँ बहती थीं ।”

कहते-कहते नीलिमा का मुँह लाल हो गया । वह हाँफती-हाँफती कहे जा रही थी—

“सुग्रीव ने अपने सगे भाई बाली को राम द्वारा क्यों मरवाया ? अपनी रक्षा के लिए ही न ?”

मैं बीच ही में बोल पड़ी—“अनुज-वधू को रखैल रखने वाले

का तो मिट जाना ही ठीक है क्या ऐसा आप नहीं मानतीं ?”

“तो ‘अग्रज-वधू’ तारा को पत्नी के रूप में रखने वाले सुग्रीव को क्यों नहीं मिटना चाहिये था ? जिस अपराध के लिए आपके मर्यादापुरुषोत्तम राम ने बाली को मारना धर्म माना उसी अपराध के लिए सुग्रीव को कैसे किस नैतिक आधार पर क्षमा कर दिया गया ?

लिली ! आज हमें अपने अतीत के इतिहास को अन्ध-विश्वास का ऐनक उतारकर पढ़ना-समझना होगा ।

जो भूल हम युग-युगों से करते आ रहे हैं, अब हमें वह भूल सुधार लेना होगी, नहीं तो इस देश को भी उस क्रान्ति का सामना करना होगा जिसके खूनी जबड़ों में रूस, चीन-जैसे महादेश पिस चुके हैं ।”

“नहीं ! नहीं !! ऐसा न कहो दीदी ! भगवान न करे कि कभी वे खूनी दिन इस गांधी-बुद्ध के देश को देखने पड़ें ।”

“लिली ! इस गांधी-बुद्ध के देश ने अब तक क्या-क्या किया है, सो सब कुछ कहने को मन कर रहा है किन्तु वह सब कहकर अब तुम्हारे श्रद्धालु हृदय को चोट न पहुँचाऊँगी ।” कहते-कहते वे खड़ी हो गयीं ।

फिर मेरा दायाँ हाथ अपनी हथेलियों में दबाकर हँसते-हँसते बोली—

“जिस बात का आज मैंने तुम्हें संकेत किया है, सो उसे भूल मत जाना लिली ! अब मैं जाती हूँ, कभी याद करोगी तो अवश्य ही आ जाऊँगी ।”

“अपनी छोटी बहिन के घर आने के लिए याद ही करना पड़ेगा ? बिना याद किये न आ सकोगी दीदी ?”

“लगता है चोट करना तुमने भी सीख लिया है ।” कहते-कहते वे चली गयीं ।

मिल के मैनेजर हुए सुधीबाबू को एक मास भी न बीता कि जिस आर्थिक आधार पर उन्होंने मिलका काम सँभाला था उससे दूसरी मिल के मजदूरों की आँखें खुल गईं। शहर की सारा मिलों में हड़तालें शुरू हो गयीं। ऐसे संघर्ष के समय में ही एक दिन विदेश से एक आवश्यक सूचना मिली और मेरे सुन्दर भीने सपने को तोड़कर वे विदेश चले गये। उसके सात दिन बाद ही एक मनहूस धुँधली सन्ध्या में पिताजी को 'हार्टअटैक' हुआ। हृदय-गति रुक गयी और वे छोड़ गये जीवन की इन विपमताओं में अचले रोने-कल्पने के लिए। फिर बाबा के साथ वर्षों तीर्थों में भटकती रही और एक दिन बाबा के लिए भी उस भगवान् का बुलावा आ गया। बाबा चले गये, किन्तु मेरा भटकना नहीं रुका।

उस रात मैं काशी के दशाश्वमेध घाट की सीढ़ी पर अकेली बैठी थी। चारों ओर सन्नाटा था और आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे। अपने मुहाग को अमर रखने की कामना लिये गंगा की धारा में छोड़े गये वे दीप सामने ही क्षिपन्निप करते बहे जा रहे थे—वे टिमटिमाते बुझते दीप !

न जाने क्यों उन बुझते दीपों को देखकर प्राण भीतर ही भीतर रो उठे। सोचने लगी—संसार में क्या सब कुछ पूर्व-निश्चित है। उस सिरजनहार द्वारा खींची गयी रेखायें ही अमिट हैं। तभी रुबाइयात की कुछ पंक्तियाँ याद आयीं—

The Moving Finger writes; and, having writ,

Moves on: nor all thy Piety nor Wit
Shall lure it back to cancel
Nor all thy Tears wash out a Word of it.

सोचने लगी—तो क्या इन बुझते दीपों में से प्रत्येक के बुझने का समय निश्चित है। तो क्या मानव के मनसूबे उसके भीने मुन्दर स्वप्न ! उसका जीवन के लिए किया गया संघर्ष, उसकी महत्याकांक्षाएँ सब व्यर्थ हैं ! निष्प्रयोजन !!

तब याद आयी मुझे वह धुँधली राखिया ! एम० ए० का परीक्षाफल प्रकाशित हुआ था। पार्टी में गीत गाया था और हाथ में दूध का पात्र था। वे जिन आँखों से मुझे निहार रहे थे उन्होंने मृदुता सनभ्ला था। 'रेस्कल' कड़कर घर से बाहर चले जाने के लिए कहा था और तभी रुँधे-कण्ठ से हल्के स्वर में निकल गया—सु...धी...वा...चू !"

आँखें छलछला आयी और मन उड़ गया सात समुद्रपार यूरोप के किसी अज्ञात देश में जहाँ अचानक एक दिन मिल की भैतजरी छोड़कर वे चले गये थे। मैंने कितने ही पत्र डाले, पर एक का भी उत्तर न पा सकी।

उसने पूछा मैं जानती थी कि क्रिसा के वियोग की ऐसी मर्मान्तक दारुण व्यथा होती है। उस व्यथा को जो मुझे दिन-रात माल रही थी, खींच रही थी, उस स्मृति के दर्शन को सह जाने के लिए बाबा के साथ कितने तीर्थों में भटकती। और फिर कई वर्षों बाद मुझे लगा जैसे सब कुछ धुल-धुँधकर साफ हो गया है, किन्तु काशी के दशाश्वमेव घाट की वह काजी रात !

उन क्षणों में हुआ हम सत्य का परिज्ञान कि जिस समिधा को मैं समझ रही थी कि भ्रम हो चुकी है, सो था मात्र मेरा भ्रम। उसकी राख के नीचे अब भी दहकते अंगारे शेष हैं। जिन अंगारों को बुझाने के लिए मैं आज तक रोई हूँ, कलपी

हूँ, सिसकी हूँ, जाने कहाँ-कहाँ भटकी हूँ सो अब तक बुझे नहीं हैं।

उस रात मुझे लगा जैसे वे अंगारे जो अब तक वैसे ही दहक रहे हैं। अब भस्म करके ही छोड़ेंगे। मैं भीतर ही भीतर पसीज उठी। लगा जैसे मैं भी एक बुझता दीप हूँ जो बुझा जा रहा है।

तब याद आयी वह संध्या ! जब समुद्र के किनारे खेलते कुछ बच्चों के बीच बैठकर मैंने गाली रेत को खोद-खोद कर छोटा सा घर बनाया था।

फिर उस पर लिखा था—My sweet home। आप ही लजाकर अपना वह भीठा सपना, अपना वह रेत का घर तोड़ डाला था किन्तु समुद्र के किनारे टटे इस घर को वर्षों तक न भुला सकी।

सुधीबाबू के सान्निध्य में आकर मैंने अपने सपनों की दुनिया में My sweet home के स्थान पर Our sweet home बना लिया था।

अपने उस काल्पनिक घर की चौखट पर खड़ी मिल को जाते हुए सुधीबाबू को विदा करती थी। फिर संध्या के समय उनके आने की प्रतीक्षा में रोज उसी चौखट पर घंटों खड़ी रहती थी।

एक दिन नियति के क्रूर सकेत पर मेरा वह Sweet home ध्वस्त हो गया। मेरा वह भीठा भीना सुन्दर स्वप्न टट गया। और जैसे साथ ही मुझे भी तोड़कर रख गया।

दशाश्वमेध के उस नीरव, शान्त, सूने घाट पर बैठी मैं सुधीबाबू के साथ बीते दिनों की बातें याद करके जान कितनी बार रोयी थी। मुझे लगा जैसे मेरा सारा शरीर काँप उठा है। मेरा वह कम्पन बढ़ता जा रहा था ! आकाश में बिखरे उन नीरव बुझते दीपों को सूनेपन में लिपटा देख मेरे प्राण अपने

उस विछुड़े साथी के लिए हाहाकार कर उठे ।

लगा जैसे चारों ओर सब कुछ बुझा जा रहा है—आकाश के वे टिमटिमाते दीप ! सामने धरती की छाती पर बहती गंगा की गोद में झिप-झिप करते वे बुझते दीप ! तभी आकाश में एक तारा टूटा । प्रकाश की एक रेखा-सी खिंच गई और एक आकाश-दीप बुझ गया ।

लगा जैसे सब कुछ टूट रहा है । बिखर रहा है । अन्धकार के गर्त में लोप हुआ जा रहा है ।

तभी मुझे लगा जैसे आकाश के उन बुझते दीपों में मज्जदूरों के वे मृत बच्चे आलोकित हो उठे हैं जिन्होंने हैजे में छटपटाकर अपने प्राण त्याग दिये थे । जिन्हें मुधीवाद् किसी भी प्रकार न बचा पाये थे ।

जिस आघात को सहने के लिए उन्होंने अपनी कोठरी में बेला बजाया था । बेला का वह करुण चीत्कार ! याद कर करके प्राण खिंच उठे । तभी लगा जैसे उन विवश शिशुओं के चेहरे उन तारों में झिप-झिपकर कह रहे हैं—

“हमों है वे दीप ! जो एक दिन असमय में बुझकर यहाँ आ बैठे हैं । तुमने, तुम धरती के मानवों ने, हमें मिटाकर यहाँ भेजा है । हम यहाँ से टूट-टूट कर तुम्हें, तुम पूँजी के अधिपतियों को मिटा डालोगे जिस पूँजी के अभाव में हमें कुत्तों की मौत मरना पड़ा है ।”

तभी याद आया सुधी बाबू का प्रिय गीत—

कर जाता संसार सुरभिमय,

एक सुमन भरता-भरता ।

भर जाता आलोक तिमिर में,

लघु दीपक बुझता-बुझता ॥

पता नहीं जाने कितनी बार मैंने यह अंतिम पंक्ति ‘लघु

दीपक बुझता-बुझता' को दुहराया। और तब तक दुहराती रही जब तक मेरा सारा शरीर निर्जीव अशक्त-सा उसी नीचे की सीढ़ी पर जाकर झुक नहीं गया।

मैं झुकती हुई उसी पत्थर की सीढ़ी पर सीधी गिर गई। जिसके नीचे कल-कल गुनगुनाती गंगा बहती जा रही थी। एक हाथ नीचे की ओर पानी में छप् से गिर गया। इतनी भी शक्ति शेष न रही कि उस हाथ को खींचकर मैं अपने वक्षःस्थल पर रख लेती।

एक हाथ मेरी गर्दन के नीचे बिखरे वालों में छिपा था। मुझे लगा जैसे मैं भी एक बुझता दीप हूँ जो गंगा की उन लहरों पर चुपचाप बहा जा रहा है।

तभी एक बुझा दीप उसकी अँगुलियों को छूता-सा आगे सरकने लगा।

लगा जैसे वह बुझा दीप न होकर हैं मेरे मृत पिता जी का स्नेह-वात्सल्य-भरा स्पर्श। कम्पन बढ़ता गया—रोम-रोम सिहर उठा।

लगा जैसे पिताजी का रुंधा कंठ-स्वर कहीं सुन पड़ा है। वे कह रहे थे—“बेटी! जिस एकमात्र संतान के लिए मैंने जाने कितने अच्छे-बुरे काम किये सो क्या इन्हीं क्षणों के लिए? उठो बेटी, उठो!” किन्तु तिल भर भी मैं हिल-डुल न सकी।

लगा जैसे मैं वह पत्नी हूँ जिसके पंख काट डाले गये हैं। मैं फड़फड़ाती-सी वहीं पत्थर की सीढ़ी पर अवश अशक्त-सी पड़ी रही।

मुझे लगा जैसे धरती का वह बुझा दीप आकाश में ठीक मेरे ऊपर जाकर टिम-टिमा उठा है। उस आकाशदीप में मेरे परलोकवासी पिता की स्वच्छ स्नेह भरी सजल आँखें चमक उठी हैं। वे आँखें कह रहीं थीं—“उठो बेटी! उठो!!” मैं छट-

पटायी, पर उठ न सकी ।

तभी दूसरा झिप-झिप करता दीप मेरे हाथ को छूता हुआ आंग बढ़ने लगा । उसका वृत्ताकार बुझता प्रकाश उन लहरों पर बिछलने लगा, जिसका प्रतिबिम्ब पड़ा मेरी पुतलियों पर और साथ ही अँगुलियों ने अनुभव की एक मीठी तपन-सी, गर्मी-सी, जो कभी-कभी सुधीबाबू की गर्म भारी हथेलियों में अनुभव करके मैं सिहर उठती थी ।

सुधीबाबू की हथेलियों के स्पर्श की अनुभूति देने वाले उस बुझते दीप को देखने के लिए छटपटाती उठी । तब उस बुझते दीप में दखी सुधीबाबू की वे निरीह भावुक आँखें जिन्होंने मेरे समस्त जीवन को अपने में बाँध-सा लिया है ।

यह देखकर धक्से हो गया कि वह झिप-झिप करता दीप थोड़ा आगे जाकर बुझ गया । साथ ही एक दुश्चिन्ता से प्राण काँप उठे । तो क्या इसीलिए मैं अब तक अपने पत्रों का उत्तर नहीं पा सकी ? क्या वह दीप बुझ गया जिसकी मैं चर्तिका बन जाना चाहती थी । तो क्या सुधीबाबू ..

चिन्तार आते ही लगा जैसे छाती फाड़कर कुछ बाहर आ जाना चाहता है । लगा जैसे अन्दर-ही-अन्दर कहीं कुछ जल उठा है । एक हल्की-सी चीख निकल गया । सु धी...वा...वू !

मुझे लगा जैसे गंगा की लहरों पर बहते वे बुझते दीप नहीं हैं वे हैं मेरे भीने सुन्दर टूटे सपने जो गंगा की उठती-गिरती लहरों पर बुझते जा रहे हैं । आँखें झलझला आयीं ।

किसी की स्मृति में मेरे वे आँसू गंगा की पवित्र धारा में मर उठे ।

फिर पता नहीं कितनी देर तक भावाविष्ट अचेत-सी मैं उन्हीं सीढ़ियों पर पड़ी रही ।

कभी-कभी जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं, जब लगता है जैसे मानव के तिमिराच्छन्न अन्तस्तल में शत-शत विद्युत् दीप अचानक ही कहीं जल उठे हैं। लगा जैसे निभृत कन्दरा में छटपटाती जिज्ञासु आत्मा की गुप्त साधना अकस्मात् ही सिद्धि के रूप में साकार हो उठी है।

उस रात जब बनारस के दशाश्वमेध घाट की सीढ़ियों पर गंगाजी की धारा में वहते बुझते दीपों को देखती विगत जीवन की अनेक घटनाओं से उनका मेल बिठाती, अचेत-सी हो गई थी तब चेत आने पर लगा था जैसे अचानक अन्दर-ही-अन्दर कुछ आलोक फूट उठा है—जैसा उससे पूर्व मैंने कभी अनुभव नहीं किया था।

लगा जैसे मेरे भाग-दौड़ भरे जीवन में—उम हाहाकार में से अचानक एक सत्य उद्भूत हो उठा है। और उसके आधारतल थे वही सुधीबाबू!

लगा जैसे उस बुझती वर्तिका में शत-शत दीपों का आलोक दीप्त हो उठा है। उन सीढ़ियों पर पड़े-पड़े ही मुझे लगा जैसे—किसी अज्ञात दूर देश में बैठी आत्मा से उसने जीवन का अर्थ और उद्देश्य अचानक पा लिया है।

मैं बनारस से चलकर सीधी बम्बई आई। जब कोठी में पहुँची तो साँझ हो चुकी थी। अड़ौसी-पड़ौसी, मिल के उच्चाधिकारी जब मिल-जुल कर चले गये तो अपने कमरे में चुपचाप बिना खाये-पिये जाकर लेट गई।

मुझे लेटे देर नहीं हुई थी कि किसी ने द्वार खटखटाया । मैंने उठकर बिजली जलायी और द्वार खोल दिया ।

किवाड़ खुलने पर जिसे द्वार पर खड़ा देखा उसने देखते ही लगा जैसे मैं किसी मुँह फैलाये भयानक अन्नगर के सामने अचानक जा पड़ी हूँ । अजीत की माँ सामने खड़ी थी ।

उनके चेहरे की भुर्रियाँ गहरी होकर अति कान-सा हो गयी थीं । आँखों के नीचे काले-काले धब्बे-से ढँके गये थे । लगता था जैसे आँखों में जड़ी वे पुतलियाँ समा नहीं पा रही हैं—बाहर को निकल आना चाहती हैं—उनके जबड़ें बार-बार हिल उठते थे जैसे कुछ चबा रही हों ।

हम दोनों कुछ देर उसी जगह एक दूसरे को घूरत खड़े रहे ।

उनसे बिना कुछ कहे-सुने फिर जाकर बिस्तर पर काँपती-सी आ बैठी । मेरी पिंडलियाँ काँप रही थीं । कई बार चाहा कि किसी दास-दासी को पुकारकर बुला लूँ पर किसी भी प्रकार कंठ से स्वर ही न फूटा ।

मैं प्राण-पण से प्रयत्न कर रही थी कि मेरा वह भाव उक्त बुढ़िया पर प्रगट न हो सो मैंने धीरे से अपनी काँपती पिंडलियों को खींचकर चादर से ढाँक लिया ।

तभी वह गहरी निःश्वास छोड़ती बोली—“बेटी ! तेरी राह देखते-देखते ही इतने वर्ष बिता दिये । चाहती तो अब तक इस कोठी में आजाती और जमीन-जायदाद पर भी अधिकार पा लेती लेकिन.....”

कहते-कहते वह रुक गयी । फिर सामने टंगे मेरी माँ के फोटो को देखती-देखती बोली—

“मृत स्वामी का ध्यान आ जाता है—अदालत में उनकी सभी अच्छी-बुरी बातें खोलकर ही तो बतानी होंगी, फिर उनकी कितनी बदनामी फैलेगी, वही सब आगा-पीछा सोचकर रुक

जाना पड़ता था ।

अब तुम आगई हो बेटी ! सब सोच-समझकर कल जवाब दे देना । कल इसी समय आ जाऊँगी ।” कहकर जैसे चुपचाप आयी थी वैसे ही चली गया ।

रात के उस सन्नाटे में सीढ़ियों से उतरते समय उनके पैरों की आवाज आ रही थी । ऐसा लग रहा था जैसे काली सर्पिणी उसके गले से सरककर सूखे पत्तों को खड़खड़ाती एक ओर चली गयी है । सोचने लगी—फिर कल इसी समय पन उठाय सामने आ खड़ी होगी ।

जब वह चली गयी तब जाकर मेरे कंठ में गार फूटा । जरा-सी देर में कोठी के नौकर-चाकर इकट्ठे हो गए । उसी समय सदर फाटक पर पहिरा बैठा दिया गया और किसी को भी बिना आज्ञा के अन्दर न आने देने की सख्त ताकीद करा दी गयी ।

मैं सारी रात बिछौने पर पड़ी छटपटाती रही, किन्तु कैसे भी आँख नहीं भपकी—बार-बार एक ही बात अनेकों प्रकार से सामने आ जाती थी । सोचने लगी—सुधीबाबू ! मानती हूँ तुम एक ऐसी ज्योति हो जिससे न जाने कितने देश-विदेश का मुझ अभागी जैसी आत्मायें प्रकाश पाती हैं—मैं तुम्हें अपने लिए बाँधना तो नहीं चाहती, किन्तु पत्र क्यों नहीं दिया ? तुम्हें मेरे लिए एक पत्र लिखने तक का अवकाश नहीं मिला ?

जाते समय जैसी सजल आँखों से मेरे गाल थपथपाकर मुझे देखा था, रो तो क्या था ? मात्र भ्रम ? बकचला ??

तब भीतर ही भीतर मन सुधीबाबू को अनेकों बार कोस-कोस कर कहने लगा—सुधीबाबू ! तुम देश-विदेश क चाहें कितने ही बड़े-बड़े काम कर लेना, किन्तु जाने-अनजाने तुम्हारे लिए मुझ-जैसी लड़कियों की आँखों से जो आँसू बहे थे, सो तुम्हें कभी क्षमा न कर सकेंगे—

तभी याद आयीं वे नीलिमा दीदी और फिर वह अनाथ बालक ! जिसे दीदी के पास छोड़कर सुधीबाबू विदेश चले गये थे । सोचते-सोचते मैं उन दीदी और उस बच्चे को देख लेने के लिए छटपटा उठी—फिर कुछ सोचकर अकेले ही सूखी हँसी हँस पड़ी।

सोचने लगी—कैसी है इस मन की माया ! जिन्हें इतने वर्षों में कभी भूलकर भी याद नहीं किया सो आज इस एकान्त अँधेरी में उन्हीं को देखने के लिए एक एक-पल काटना दूबर हुआ जा रहा है—और जिसके बिछोह को न सह पाकर सालों भटकती-सी रही सो उसी को अकारण ही मन क्यों कोस उठता है ! मन के इस रहस्य का आज तक कौन संधान कर पाया है ?

दूसरे दिन भोर होते ही बिना जलपान किये मैं गाड़ी लेकर अपनी उन्हीं दीदी को उस उतनी लम्बी-चौड़ी बम्बई नगरी में से खोज निकालने के लिए चल पड़ी ।

जब सारे दिन भटकते-भटकते निराश हो गयी तो ध्यान आया उस माधो का—उन भोंपड़ियों का—जहाँ सुधीबाबू के साथ हैजे के दिनों में वह कई बार गयी थी ।

यह सोचकर कि सुधीबाबू जिस तरह अपने उत्तराधिकारी उस बालक का बोझ उन दीदी पर डाल गये हैं वैसे ही शायद अपने उन अकिंचन आत्मीयों का बोझ भी उन्हीं के सिर लाद गये होंगे, यह ध्यान आते ही गाड़ी मैंने उस ओर मोड़ दी ।

वहाँ जाकर देखा तो आश्चर्य में डूब गयी । वे भोंपड़ियाँ वहाँ से हटा दी गयी थीं, वहाँ पक्के साफ-सुथरे छोटे-छोटे क्वार्टर खड़े थे । सदर फाटक पर एक बोर्ड था । उस पर लिखे अक्षरों को पढ़कर यह समझते मुझे देर नहीं लगी कि मिल के मजदूर भी यहीं रह रहे हैं ।

गाड़ी से उतरते ही माधो को देखा । उसके हाथ में नन्हा-सा बालक था और पास ही खड़ी थी वह औरत जिसे मैंने एक दिन उस सस्ते होटल में चाय पीते देखा था ।

माधो मुझे देखते ही उस नन्हे बालक को अपनी स्त्री के हाथों में देकर हाँफता-हाँफता मेरे पास दौड़ा आया । मेरे पैरों की पगधूलि माथे पर लेकर दौड़ा-दौड़ा उन क्वार्टरों के बीच खड़ा चिल्लाने लगा—

“अरे देखो ! मालकिन आयी हैं—रामू ! कन्हैया ! भीमा ! तुम सब कहाँ जाकर मर गये ?”

मैं खड़ी उस माधो को देख रही थी—जिसने उसे एक दिन होटल में अपमानित किया था—जिसने एक दिन सुधीबाबू की हत्या करने का भार अपने ऊपर ले लिया था । सो वही उसे देख कर कैसे प्रेम-विह्वल हो उठा था । सोचने लगी तो क्या नीलिमा दीदी की बात ही सच है ? इस दुनिया में सब कुछ पैसा है—मनुष्य को राक्षस-देवता बनाता है यही पैसा ? थोड़ी ही देरमें मेरे चारों ओर मेरी मिल के वे नर-नारी आ खड़े हुए, जाने कैसी आँखों से वे मुझे देख रहे थे । स्नेह-श्रद्धा से छलछलाती उन आँखों को देखकर मन अंदर-ही-अंदर ‘भागूँ भागूँ’ करने लगा ।

उन्होंने बताया कि—

उनके सुधी दादा जब गये थे तो मिल के मैनेजर से इन क्वार्टरों को बनवाने के लिए कह गये थे । तभी मेरी दृष्टि उन औरतों के गले में पड़ी चाँदी की हँसली, पैरों में झनझनाती चाँदी की भाँझन और लच्छों की ओर गयी ।

सोचने लगी भगवान् ने कैसी अतुल शक्ति देकर सिरजा है इस मानव को । एक मास ही तो सुधीबाबू मिल के मैनेजर रहे थे और इसी बीच कितना क्या करके चले गये हैं ।

तभी माधो ने दबी जबान से कहा—“मालकिन ! सुधी दादा

कह गये थे कि यहाँ हमारे लिए अस्पताल बनेगा, स्कूल खुलेगा, सो तो कुछ भी नहीं हुआ—पता नहीं जो रुपया इस काम के लिए वे दे गये थे सो कहाँ गया ?”—कहकर उसने डरती आँखों से अपने साथियों की ओर देखा—

मैंने कहा—“माधो, डरो नहीं, अब सब ठीक हो जायेगा—सब ठीक हो जायेगा।” तभी न जाने किसको कौन सी स्मृति लेकर मेरी आँखें छलछला आयीं। रुँधे कण्ठ से बोली—

“माधो ! तुम नीलिमा दीदी को जानते हो ?”

“हाँ मालकिन, जानता हूँ—हारी-बीमारी में वही तो हमें देखभाल जाती हैं।”

सुनकर न जाने क्यों आत्मग्लानि से भर उठी। सोचने लगी—और एक यह नीलिमा दीदी हैं—कितना विश्वास है सुधीबाबू का इन पर—सब कुछ उन्हीं पर क्यों छोड़ गये हैं ? मुझे इतना छोटा क्यों समझा उन्होंने।

फिर एक गहरी उसाँस छोड़ते हुए मैंने कहा—“माधो ! मुझे उधर ही ले चल।”

जिस बात का जवाब मुझे खोजे नहीं मिल रहा था कि सुधीबाबू सब कुछ उन्हीं पर क्यों छोड़ गये हैं सो उसका समाधान मिला उस गंदे नाले के पास खड़ी नीलिमा दीदी की उस टूटी-फूटी भोंपड़ी में ।

माधो को लौटाकर मैं उसके द्वारा बताये उस भोंपड़े के सामने जा खड़ी हुई । चारों ओर पानी के छोटे-छोटे गड्ढे थे जिनसे पानी की सड़ांध उठ रही थी । वहाँ थोड़ी-थोड़ी दूर पर दूसरी कुछ भोंपड़िया भी खड़ी थीं ।

मन-ही-मन सोचने लगी—सुभाष बाबू के महान् साथी, संसार के सुख-दुख का हिसाब रखने वाले उस महान् क्रान्तिकारी का उत्तराधिकारी इस भोंपड़ी में पल रहा है । जीवन की कठोर धरती में फूटता अंकुर !

मैं नाक बन्द किये उस भोंपड़ी के द्वार पर जा खड़ी हुई । दीदी ने मुझे देख नहीं पायी ।

नीलिमा दीदी बाजरे की मोटी रोटी को मिट्टी के तवे पर पलटती बोलीं—

“हाँ बेटा, आगे पढ़ !” और वह ग्यारह वर्ष का बालक ‘जीन किस्तेफे’ की मोटी पोथी में से पढ़ने लगा—

“He knew that she was sacrificing all her happiness to her son...” पढ़ते-पढ़ते वह कुछ सोचता-सा चुप हो गया ।

तभी वे उस रोटी की राख झाड़ती हुई बोलीं—

“चुप क्यों हो गया रे ! आगे पढ़ ।”

“अम्मा ! तुम भी तो अपने इस बेटे के लिए”

“हाँ, हाँ ! आगे पढ़ ।”

“तुम देखना अम्मा ! जब मैं बड़ा हो जाऊँगा तब मैं तुम्हें कितना सुख दूँगा .. ।”

“अच्छा-अच्छा बस कर ।”

“अम्मा ! पिताजी तुम्हें छोड़कर योरुप क्यों चले गये ?— बताओ जब वे लौटेंगे तब उनसे खूब लड़ूँगा । खूब !”

“बेटा ! तेरे पिता जी से कोई नहीं लड़ पाता—जिसके अन्दर अपने-बिराने सब के लिए स्नेह का समुद्र लहराता हो, सो उससे कोई कैसे लड़ेगा—कैसे ?” कहते-कहते उनका गला भर आया ।

फिर मुझ से वहाँ कैसे भी चुपचाप खड़ा न रहा गया ।

मैंने काँपते कंठ से कहा—

“दीदी !”

वे बाजरे की उस मोटी रोटी को एक ओर बड़े कटोरदान में फेंकती उठ खड़ी हुई । फिर दौड़कर उन दीदी ने मुझे अपनी बाँहों में भर लिया । और वह बालक मुँह फाड़े अचरज से हम दोनों को देख रहा था ।

×

×

×

तभी दीदी बोली--“बेटा ! यह तेरी मौसी हैं । चल, पैर छू ।” वह मेरे पैर छूने आगे बढ़ा और मैंने बीच ही में खींच-कर उसे अपनी छाती से लगा लिया ।

दीदी की उस भोंपड़ी का फूस जगह-जगह से उड़ गया था । ज़मीन पर ईंटें बिछाकर कुछ लकड़ी के तख्ते बिछा लिये थे ।

चारों ओर सब कुछ टटा-फूटा करीने से सजाकर रक्खा था । एक कोने में मिट्टी की नांद में फागज भीग रहे थे । उन

सड़ते कागजों से विचित्र-सी बदबू आ रही थी। उन्हीं कागजों की कुट्टी से बने कुछ पूरे, कुछ अधूरे खिलौने एक ओर रक्खे थे।

मैं किसी भी भाँति यह न समझ पा रही थी कि इतनी बड़ी बम्बई छोड़कर वे यहाँ आकर क्यों बसी हैं ?

प्रोफेसरी छोड़कर यहाँ बैकुट्टी के खिलौने क्यों बना रही हैं ? तभी एक हाँफता-हाँफता अध-नंगा बालक दौड़ता-दौड़ता आया और बोला—

“दीदी ! जल्दी चलो !! बापू रो रहे हैं। सबने अम्मा को उतारकर खाट से नीचे लिटा दिया है।”

सुनकर दीदी ने उस बच्चे को छाती से चिपटा लिया, फिर बोली—

“अशोक ! जा इसे लेके उधर मैदान में घूम आ। फिर सीधे यहीं आना। इसे भी इधर ही ले आना।”

सुनकर वह अशोक बोला—

“माँ ! मैं जूते पहिनकर नहीं जाऊँगा। चलता हूँ तो बार-बार पैर से निकल जाते हैं।” कहकर उसने उन कपड़ों के कई जगह से चिड़ियाँ लगे जूतों को उनके सामने रख दिया। उनकी एड़ी विल्कुल फट गयी थी।

“अच्छा जा ! कल ठीक करा दूँगी।”

अशोक उस बच्चे को लेकर बाहर चला गया। तब मैंने पूछा—“किसका लड़का था ?” सुखी हँसी हँसती बोली—“हमारी ही जाति का था !”

“आप जाति-पाँति मानती हैं ?”

“हाँ लिली, मानती हूँ, धर्मशास्त्र वाली जाति नहीं—अर्थ-शास्त्र वाली जाति ! अमीर, गरीब ! शोषक, शोषित !!”

“दीदी ! अब मुझे भी अपनी जाति में मिला लो। क्या मैं

नहीं मिल सकती ?”

उन्होंने कुछ उतर नहीं दिया। कुछ देर हम दोनों चुपचाप बैठे रहे। तब वे बोलीं—“आठ-दस दिन हो गये! बीमारी से लड़ रही थी। आज मुक्ति मिल गयी।”

“क्या हुआ था उसे? कैसे मर गयी?”

“लिली! विद्युत-दीपों से जगमगाती इस सुन्दर नगरी बम्बई के इस भाग में बसने वाले इन लोगों के घरों में लगता है जैसे रोते-रोते जन्मना और फिर छटपटाते मर जाना दो ही काम शेष रह गये हैं। अपनी और परायी दृष्टि में इनका जन्मना और मर जाना—इनकी दीनता-हीनता—जैसे ऐसी सहज क्रिया हो गयी है कि किसी का ध्यान ही इस ओर नहीं जाता।

“हेजा, चेचक जैसी बीमारियाँ जंगल में लगी आग की भाँति अपने आप ही यहाँ फैलती हैं और भवतः ही नष्ट हो जाती हैं।”

“किन्तु दीदी! तुम यहाँ आकर क्यों रह रही हो?”

सुनकर ओठों पर सूखी हँसी बिखेरती बोलीं—“लिली! इस दुख में अपनी जाति छोड़कर कहाँ जाऊँ?”

“प्रोफेसरी क्यों छोड़ दी?”

“उन दिनों इस अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध समुद्री सैनिकों ने विद्रोह किया था—मुन्नीवाबू का उसके पीछे हाथ था। उनके जाने के बाद उस विदेशी सरकार ने अपना रोप उतारा मुम्बई पर—मेरी तो बात जाने दो इस अशोक की भी ऐसी पिटाई की कि याद करके अब भी काँप जाती हूँ, सो इस ख़बर को पाकर कॉलेज की मैनेजिंग कमेटी अपने कॉलेज में रखने का साहस कैसे करती?”

“लेकिन दीदी! अब तो वह सरकार नहीं रही। अपनी सरकार है।”

“नहीं लिली ! सरकार के आदमियों का केवल रंग और नाम बदल गया । कर्म नहीं बदला । यहाँ मनुष्य कुत्तों की भाँति जन्मता है और कुछ वर्षों तक सड़क, गली-कूचों में उन कोठियों, पक्की हवेलियों के चारों ओर जूठन बीनता-बीनता मर जाता है ।

यदि सरकार हमारी—हमारी जाति की—मजदूर किसानों की होती तो दिन-रात मनुष्य का जो इतना बड़ा अपमान हो रहा है, सो कैसे हो पाता ?”

“फिर कैसे क्या होगा दीदी ?”

“होगा लिली ! एक दिन अवश्य होगा । बिना हुए कैसे भी न बचेगा ।”

“लेकिन कौन करेगा दीदी ?”

“करने वाले चुप नहीं बैठे हैं लिली ! जब हमारी जाति में आकर मिल जाओगी तभी समझ पाओगी कि उस असली आजादी को पा जाने के लिए कहाँ क्या हो रहा है !”

“कहती तो हूँ दीदी ! मिला तो न मुझे भी अपनी जाति में ।

“लिली ! तुम्हें अपनी जाति में मिला लेने के लिए जाने कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे खोज की, पर न जाने तुम कहाँ कैसे अलोप होगयीं—मैं तुम्हारा दुख समझ सकती हूँ ।”

“लिली ! जब शरीर में फोड़ा पकता है तो उस पीड़ा को सह-पाने के लिए वह छटपटाता है—पके अंग को बारबार फूँकता है—भागता-दौड़ता है किन्तु बिना उपचार किये तो क्लेश नहीं मिट जाता ? तुम उस दर्द को लेकर भागी क्यों ?”

“दीदी ! इस भाग-दौड़ के बाद बनारस के उस दशाश्व-मेघ घाट की सीढ़ियों पर पड़ी-पड़ी यही सत्य समझकर यहाँ वापस दौड़ी आयी हूँ ।”

तभी उन्होंने खींचकर मुझे छाती से चिपटा लिया फिर बोली—“लिली ! फोड़े का ऑपरेशन करते समय—ऑपरेशन के उन छुरी-काँटों को देखकर भाग खड़ी हुई तो—”

“दीदी ! बहुत भाग-दौड़ चुकी हूँ, अब अपने इन हाथों से प्र/ण भी लेना चाहो तो वह भी हँसते-हँसते दे सकूँगी।”

सुनकर मेरी उन नीलिमा दीदी की आँखें छलछला आयी।

तभी अशोक नंगे पैर धूल-कीचड़ में पैर साने उस अब नंगे लड़के को साथ लिये सामने आ खड़ा हुआ।

दीदी बोली—

“बड़ी देर कर दी बेटा, कहाँ तक गया था ?”

“यह मानता ही नहीं—‘अम्मा ! अम्मा !’ करता रोये चला जा रहा है।”

सुनकर दीदी बोली—

“अच्छी लिली ! अब तुम जाओ। मैं ज़रा उस ओर हो आऊँ। देखूँ, अभागे कफ़न-लकड़ी भी कहीं से जुटा पाये हैं या नहीं ?”

“लेकिन दीदी ! अशोक को भी उधर मुर्दे के पास ले जाओगी ?”

“लिली ! कितने वर्षों से यह यही सब तो देखता आ रहा है—तुम जाओ, इसे उन सब बातों का अभ्यास है।”

“तो दीदी ! फिर मुझी को क्यों भेज रही हो ? लगता है अभी अपनी जाति में मिला नहीं पायी हैं।”

“अच्छा ! तो तुम और अशोक यहीं बैठो, मैं अभी आती हूँ।”

“नहीं दीदी ! मैं भी चलूँगी उधर !”

“अच्छा, चलो !”

एक अँधेरी भोंपड़ी में धुँधला-सा प्रकाश हो रहा था—
उसी भोंपड़ी के द्वार पर एक ओर बाँस की लकड़ियों में बैधी
अर्था पड़ी थी ।

मैं एक ओर जा खड़ी हुई । दीदी अपने उन्हीं जाति-भाइयों
में जा बैठी । वहाँ सभी दीदी को माँ कहकर बुला रहे थे ।

दीदी बोली—

“हरदू ! इस कफन का कहाँ से प्रवन्ध कर पाया ? तभी उस
अर्था के पास बैठे हरदू ने फटे कुर्ते की बाँह से आँसू पोंछते
कहा—

“माँजी ! यह इसी की शादी पर मैंने चढ़ावा चढ़ाया
था । सो आज काम आ.....” कहते-कहते वह डिङ्कारी मार
कर रो पड़ा ।

×

×

×

जब लौटकर दीदी का उस भोंपड़ी में पहुँची तो रात काफी
बीत चुकी थी । इधर-उधर भरे पानी के किनारे बसने वाले
जीव-जन्तुओं की आवाजें आ रही थी । रह-रह कर कहीं
भोंपड़ी के द्वार पर ही कोई कीड़ा बोल उठता था ।

दीदी ने मिट्टी के दीये में तेल डालकर प्रकाश किया, फिर
उनके अभ्यस्त हाथ ईंटों पर पड़े उन लकड़ी के तख्तों पर
बिछौना बिछाने लगे । सब से नीचे एक मोटी कपड़ों की सिली
कँथली बिछाई गई, फिर अपनी पुरानी साड़ियों की बनी एक
चादर बिछाती-बिछाती बोली—

“लिली ! अब तुम देर क्यों किये जा रही हो ? कल मैं उधर ही आऊँगी ।”

तभी भीतर-ही-भीतर हँसती मैं बोली—

“दीदी ! आपकी जाति में मिलने के लिए क्या सचमुच ही कुछ विधि-विधान से विशेष दीक्षा लेनी होगी ?”

“लिली ! यहाँ तुम्हें ठीक से नींद नहीं आयेगी, इसीलिए कह रही थी ।”

“दीदी ! तीर्थों की इस भाग-दौड़ में चाहे और कुछ न सोख पायी हूँ किन्तु इस देश के तीर्थों में बनी धर्मशालाओं की गन्दगी में गहरी नींद से सो सकना अवश्य ही सीख आयी हूँ ।

×

×

×

जब बाजरे की रोटियाँ और किसी दूरे साग की पत्तियों का साग खा-पीकर दीदी से चिपटती लेटी तो लगा जैसे जीवन में पहिली बार मैंने अपनी सगी माँ के साथ लेटने का सुख पाया है ।

कुछ देर तक हम सब चुप-चाप लेटे रहें । मेरे एक ओर दीदी लेटी थी और दूसरी ओर वह अशोक ।

मैं अशोक से जितना ही बोलने का, उसमें हेल-मेल बढ़ाने का प्रयत्न करती थी वह उतना ही दूर-दूर हटा जाता था ।

तब खीजकर मैंने कहा—

“दीदी ! लगता है तुमने तो मुझे अपनी जाति में मिला लिया है, किन्तु तुम्हारे इस बेटे ने दक्षिणी ब्राह्मण को भाँति छुआछूत का कुछ अधिक ही संस्कार अर्जित कर रक्खा है !”

वे हँसती बोलीं—

“लिली ! न जाने कब मैंने टालस्टाय की एक किताब पढ़ी थी । उसमें लिखी एक बात कभी नहीं भूल पाती ।”

“क्या लिखा था ऐसा उसमें ?”

“लिखा था कि जो लोग भोंपड़ियों में जाकर काम करना चाहते हैं सब से पहिले उन्हें अपने कपड़ों की उस सफेदी को मिटा डालना चाहिए। जब तक वे इस सफेदी की खाई को नहीं पाटते तब तक गरीबी में पले वे अभागो उन पर विश्वास नहीं कर पाते।”

“अच्छा तो आपका यह बेटा इसीलिए मुझ से दूर भागा फिर रहा है।” कहते-कहते मैंने अशोक को खींचकर अपनी छाती से चिपटा लिया।”

अशोक—सुधीबाबू के उस अंश—को छाती से चिपटाकर मैंने किस प्रकार की आत्म-तृप्ति का अनुभव किया था सो मैं किसी भी प्रकार लिख नहीं पाती !

तभी वह पहिली बार बोला—“मौसी !”

मैंने उसके गाल थपथपाकर कहा—

“हाँ बेटा !”

“कल तुम हमें छोड़कर चली जाओगी ?”

“नहीं बेटा ! अब तो मैं हमेशा तुम्हारे साथ ही रहूँगी।”

“लिली ! लगता है ऊपर से कितने ही दुख का अभिनय करनेवाली हमारी काँप्रेसी सरकार का अन्दर-ही-अन्दर पूँजी-पतियों, राजे-महाराजाओं के लिए जैसा उसमें प्रेम है सो लगता है हमारे बेटे का भी वही हाल है।”

सुनकर हम सब कुछ देर तक हँसते-हँसते चुप हो गये। फिर हममें से कोई भी न बोला—

मेरे कान ही के पास कोई कीड़ा-मकोड़ा रह-रह कर भंकार उठता था। जैसे ही वह बोलता था कि मैं खीज चठती थी। बहुत देर तक मैं सोचती रही कि वह अपने आप ही चुप हो जायेगा जब कुछ देर मौन रहकर एकाएक दूने वेग से वह बोल उठा—तो मैं खीजती-सी चीख पड़ी—

“दीदी ! जाने यह कौन कान के पास ही चीं-चीं किये जा रहा है । इसे चुप करिये न—नहीं तो मैं एक पल के लिए भी न सो पाऊँगी । कौन है यह ?”

तभी अशोक मेरा हाथ खींचता बोला—“वाह मौसी ! इतना भी नहीं जानती—यह तो भींगुरी बोल रही है ।”

“दीदी ! लगता है इस छोटी-सी उम्र में ही हिन्दी-अंग्रेजी की बड़ी-बड़ी पुस्तकों को पढ़ाने के साथ जीव-जन्तुओं का भी विषय-ज्ञान करा दिया है आपने इसे ।”

“लिली ! कभी कभी तो मैं सोचती हूँ रूसो, डार्विन, वड्सवर्थ की भाँति जितना ज्ञान मनुष्य प्रकृति की गोद में बैठकर पा लेता है इतना यूनिवर्सिटी की उन ऊँची प्राचीरों में बन्द रहकर कदापि नहीं पा सकता । मैं तो सोचती हूँ अपने अशोक को यूनिवर्सिटी में भेजकर कभी थोथी तोता-रटन्त नहीं कराऊँगा ।”

“दीदी ! सो तो कल की बात है जैसा आप चाहें करिये किन्तु अभी यह माँवसुन्दरा की गोद में बैठी यह भींगुरी मेरे प्राण खाये जा रही है सो उसकी तो कुछ रोक-थाम करिये ।”

सुनकर दीदी जोर से हँस पड़ी, फिर न जाने क्यों अति गम्भीर होकर बोली—

“लिली ! धरती के इन लालों को आवाज आज तक कोई नहीं रोक सका । रूस और चीन के बसने वाले वे धरती के लाल जब एक स्वर में बोल उठे तो उनकी उस आवाज को ज़ार का समूची शक्ति और अमेरिका के लक्ष-लक्ष डालर भी न रोक पाये ।

कुछ देर हम चुप लेटे रहे तभी अशोक हँसता-सा बोला—

“दीदी ! चाहे तुम्हारी ज़ार की फौज और अमेरिकी डालर कुछ न कर पाये हों, पर मैं अभी इस भींगुरी का बोल बन्द कर दूँगा ।”

“कैसे रे !”

“अभी लो ।” कहता-कहता वह उठा, पहिले उसने दिये के धुँधले प्रकाश में भींगुरी के उस छेद को खोज निकाला, फिर दौड़ा-दौड़ा गया और मिट्टी के एक पात्र में पानी भर लाया ।”

दीदी बोली—

“इसका क्या करेगा ?”

“देखिये ! अभी बाहर आती है ।” कहते-कहते वह पानी की धार उस छेद में उँडेलने लगा और जैसे ही पानी से वह छेद भरा कि भींगुरी साँस लेने के लिए गोल छोटी-छोटी आँखें चमकाती मुँह फाड़े ऊपर आगयी ।”

अशोक ने उसे चीमटे से पकड़ा । उसे बाहर फेंककर चुपचाप आ लेटा ।

तभी दीदी बोली—

“लिली ! तुम थोड़ी देर पहिले पृष्ठ रही थीं कि प्रोफेसरी छोड़कर यहाँ क्यों आ बस’, सच लिली ! जब दुःख-दैन्य के मारे अपने उस मकान में मेरा दम घुटने लगा, तो इसी भींगुरी की भाँति उस मकान से निकलने के लिए मैं विवश हो गयी और उस उच्च वर्ग ने चीमटे से पकड़कर मुझे इधर फेंक दिया ।

रोज मकान-मालिक किराये के लिए पठानों को भेज देता था । वे गालियाँ देते थे । पीटने की धमकी देते थे । लिली, इसी गरीबी, दीनता, हीनता से विवश होकर ये धरती के लाल किसान भी अपने-अपने गाँवों से भागकर यहाँ भोंपड़ियों में बस गये हैं ?”

“ये काम कहाँ करते हैं !”

“इनमें कुछ चोर हैं, उठाईगरी करते हैं । कुछ जेब काटने का व्यापार करते हैं । कुछ मिलों में काम करते हैं ।”

बुझते दीप

“दीदी ! सुधीबाबू ने हमारी मिल के मजदूरों के क्वार्टर्स तो बनवा दिये, लेकिन उनके स्कूल-अस्पताल का क्या हुआ ?”

“सुना है लिली ! तुम्हारे मिल के मैनेजर का पतन हो गया है। वह बहुत सारा रुपया खा गया है। वह मैनेजर कभी सुधीबाबू का साथी था। उसे वही मैनेजर बनाकर चले गये थे।

उनके जाने के बाद उसने शादी की। बच्चे हुए। परिवार बढ़ा और अब वह परिवार में डूबकर अपना आदर्श भूल गया है। मजदूरों के लिए जो विशेष फंड खोला था उसकी सारी पूँजी आज-कल मैनेजर साहब के निजी खाते में जमा हो जाती है।”

“दीदी ! उसे डर नहीं लगता कि जब हिसाब-किताब देखा जायेगा तो चोरी पकड़ी जायेगी।”

“लगता है उसने उसका समाधान भी मन ही मन कर लिया है।”

“क्या ?”

“सुना है कि अजीत और उसकी माँ उसी मैनेजर से मिलकर तुम्हारी समस्त पूँजी पर अधिकार कर लेना चाहते हैं। इतना बड़ा अधिकार दिला देने के बाद उसके हिसाब-किताब को देखने की किसे हिम्मत होगी ? शर्त रखी गई है कि मैनेजर तब भी यही रहेगा।”

“फिर !”

“इसीलिए तो मैं कितने समय से तुम्हारी खोज कर रही थी।”

“अब क्या होगा ? दीदी !”

“होगा वही जो हम लोग करेंगे। मिल का मालिक मैनेजर तो नहीं है।”

“लेकिन दीदी ! मैं तो उस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं समझती।”

“लिली ! मैंने सब ठीक कर लिया है । वहाँ मिल में कुछ उच्चाधिकारी अपने विश्वस्त हैं और मजदूर मैनेजर से चिढ़ गये हैं ।”

“तो दीदी कल ही चलकर सब ठीक-ठाक कर लो ! पिछली रात अजीत की माँ भी मेरे पास आयी थी । कोर्ट में जाने की धमकी देकर चली गयी थी ।”

“कोर्ट में जा सकती तो अब तक चली गयी होती । वह अच्छी तरह जानती है कि वह अजीत को तुम्हारे पिता की औरस सन्तान सिद्ध नहीं कर सकती ।”

बहुत देर तक दोनों में से कोई भी न बोला । अचानक कानों में बादलों की गड़गड़ाहट सुनाई दी । दीदी चौंकर बोली—“लिली ! अब आयी तुम्हारी आफत ?”

“क्यों ?”

“सुनती नहीं वहाँ अन्तरिक्ष में कौन कैसी चेतावनी दे रहा है ?”

“बादल ही तो गड़गड़ा रहे हैं ।”

“मात्र गड़गड़ा ही नहीं रहे हैं । ऐसी भोंपड़ी में लेटने वाले इस गड़गड़ाहट को चेतावनी ही समझा करते हैं कि उठ बैठो अभागो आज तुम्हें सोना नसीब नहीं होगा ।”

“क्यों दीदी ?”

“अगर पानी बरसा तब सब समझ जाओगी फिर इस भोंपड़ी में सिर छिपाने लायक भी ठोर नहीं मिलेगा । भीगते-भीगते ही सारी रात काटनी होगी ।” कहते-कहते वे उठीं और एक बक्स पर पड़ी कापी को उठा लायीं, फिर तकिये के नीचे रखकर चुपचाप लेट गयीं ।

मैं बोली, “रात मैं काट लूँगी लेकिन कल ही से आपको यह भोंपड़ी छोड़ देनी होगी सो बताये देती हूँ ।

“क्यों दीदी ! चलोगी न मेरे साथ ?”

“नहीं लिली !”

“क्यों दीदी, सो क्यों ?”

“जैसे भोंपड़ी से उस भोंगुरी को पकड़वाकर बाहर फेंकवा दिया, सो क्या मुझे भी यहाँ से दूर निकाल दोगी ? वह भोंगुरी थी, अकेली चली गया—लेकिन मैं कैसे भी न जा सकूँगी ।”

“किन्तु क्यों नहीं जा सकोगी ?”

“लिली ! जब तुझ से तेरी कोठी में मिली थी, उस दिन की और आज की तेरी दीदी में तुझे कुछ अन्तर नहीं जान पड़ता ?”

इस बार उन्होंने ‘तुम्हें’ के स्थान पर ‘तुम्हें’ कहा था । कहकर उन्होंने मुझे अपनी छाती से चिपटा लिया ।

फिर बोली—“लिली ! जिस बात को लेकर मैं सुधीबाबू से दूर चली गयी थी सो लगता है आज इतनी दूर बैठकर भी उन्होंने मेरी भूल मुझे भली भाँति समझा दी है ।”

“हाँ दीदी ! वैसा क्यों हुआ था । यही तो मैं जानना चाहती थी । उस दिन तुमने न जाने कैसे मेरा मुँह बन्द कर दिया था । पर समझ मैं कुछ भी न सकी थी ।”

“लिली ! सुधीबाबू से विवाह करने के बाद मैं एक अच्छे परिवार की मन-ही-मन कल्पना करने लगी थी । तब मुझे अपने आप ही अपनी बातें सोच-सोच कर ऐसा अचरज होता था कि लिली ! मैं तुम्हें अब कैसे बताऊँ ? कभी-कभी एकान्त में अकेले ही चुपचाप हँस लेती थी ।”

“ऐसी क्या बात थी दीदी !”

“सोचती थी कि जो इतने वर्षों से सुधीबाबू के साथ काम करते-करते अपने को ‘क्रान्तिकारिणी’ समझ बैठी थी सो उसके अन्दर यह ‘पत्नी’ ‘माँ’ कहीं कैसे छिपी बैठी थी, सो तो मैंने कभी सोचा ही न था । एक दिन मैंने कहीं अच्छा मकान लेकर

शिष्ट समुदाय में चलकर रहने के लिए विवश कर दिया + तब हम उसी टूटे मकान में रहते थे।”

“हाँ, फिर दीदी?”

“एक दिन जाकर मैं एक मकान को, जिसे छोड़कर यहाँ आना पड़ा उसका एक महीने का किराया देकर सब बात पक्की कर आयी।” कहकर उन्होंने एक लम्बी साँस ली। फिर बोली—

“लिली ! जब यह बात उन्हें आकर सुनायी तो मेरे पास चुपचाप उदास-से आ बैठे। कुछ देर मेरे बालों में अँगुलियाँ उलझाते-सुलझाते रहे, फिर मेरे सिर पर अपनी ठोड़ी रखकर साँस छोड़ते बोले—‘नीलू ! मुझ में बैठा ‘बाप’ मर चुका है। तुम जानती हो एक बार पिता बन चुका हूँ ! पिता बनने का उत्तर-दायित्व अब मैं कैसे भी निभा नहीं सकूँगा। वह अभाग्य अशोक अपने मामा-मामी के यहाँ रहता है।

मैं जानता हूँ वह वहाँ जैसे रह रहा है—पालतू कुत्ते के लिए उसके स्वामी—मानव में दया-माया हो सकती है, किन्तु अशोक के लिए उस घर में……’ कहते-कहते वे रुक गये।

फिर बोले—इसीलिए कहता हूँ नीलू, मैं अपने मार्ग पर जितनी दूर जा चुका हूँ सो अब वहाँ से नहीं लौट सकूँगा। ये जो चारों ओर गन्दे नाले के किनारे भोंपड़ों में हमारा देश बस रहा है सो उसका क्या होगा ? …नीलू ! लगता है मैं तुम्हारे साथ अधिक आगे बढ़ नहीं सकूँगा……’

सुनकर मुझे लगा था जैसे मेरा रोम-रोम जल उठा है। मैंने क्रोध में काँपते अपने सिर को उनके हाथों से मुक्त कराया और फिर……फिर……लिली ! हम दोनों में से कोई न बोला। दूसरे दिन अकेली मैं अपने नए मकान में चली गयी, प्रोफेसर बनी और एक सम्भ्रान्त महिला की भाँति रहने लगी। वे अपने उन भोंपड़ों में रहनेवाले स्वजनों को न छोड़ पाये।

तब जो बात मैं न समझ पायी थी सो अब समझी हूँ। इन झोंपड़ों को छोड़कर मेरे न जाने का कारण आज तुम भी न समझ पाओगी लिली !”

“दीदी ! और चाहे किसी की बात मैं न समझ पाऊँ पर तुम्हारी बात मैं समझ सकूँगी, समझा तो देखो एक बार अपनी इस छोटी बहिन को, क्यों नहीं छोड़ पाती इस झोंपड़ी को ?”

“अच्छा मुन ! मैं तुम्हें सुधीबाबू की एक बात सुनाती हूँ। अपने उस दूरे मकान को न छोड़ते समय यही बात उन्होंने मुझे बताया थी।”

“हाँ, वही सुनाओ दीदी !”

“तब सुधीबाबू अठारह-बीस वर्ष के रहे होंगे ! उन दिनों वे काँग्रेसी थे, किन्तु काँग्रेस के उस रचनात्मक काम में तनिक भी श्रद्धा न थी।”

“ऐसे रचनात्मक काम कौन-कौन से थे दीदी ?”

“यही अछूतोद्धार; ग्राम-सेवा, नाक बन्द करके कभी-कभी गाँवों की गलियाँ में भाड़ू लगा आना—शिक्षित होने का दर्प लेकर उन गँवदे गाँव के लोगों को लेकर भाड़ू आना।

उन दिनों सुधीबाबू अजमेर में थे। काँग्रेस वहाँ की म्युनिसिपैलिटी से महतारों का हंडाटैक्स हटवाना चाहती थी।”

“हंडाटैक्स क्या ?”

“जो पात्र शौचालय में पड़ा रहता था उसी को हंडा कहते हैं और म्युनिसिपैलिटी प्रति पात्र कुछ रुपये टैक्स लेती थी। उस टैक्स के मारे महतर दुखी थे। काँग्रेस कई बार इस टैक्स के विरुद्ध आन्दोलन कर चुकी थी पर उसे किसी प्रकार भी सकलता न मिली।”

“क्यों ?”

“काँग्रेस के जो भी कार्यकर्त्ता वहाँ महतारों में काम करते,

उस टैक्स के विरुद्ध आन्दोलन करने जाते तो उनकी बातों पर ह आशिक्षित, दीनता में पले महतर किसी भी भाँति विश्वास 'वे न कर पाते थे। वही टॉल्सटॉय वाली 'खादी की सफेदी' उन दोनों के बीच खाई बन जाती थी।

एक दिन उस आन्दोलन को सफल बनाने का बीड़ा सुधी-बाबू ने उठा लिया। पुराने काँग्रेसी नेता और कार्यकर्ता सुधी बाबू को 'बिगड़ा दिमाग' कहा करते थे।

लिली ! सुधीबाबू जाकर उन्हीं महतरों में बस गये। उनके यहाँ शादी-मौत जैसे सामाजिक समारोहों में सम्मिलित होने लगे।

जब महतरों के घरों में मौत होती तो सुधीबाबू मरघट पर नके साथ जाते थे।

पास ही में चिता जलती थी और सुधीबाबू रामायण महा-भारत से दृष्टान्त दे देकर अपने अधिकार के लिए लड़ने और मौत का भय मिटाने के लिए जाने कितनी उपकथायें सुनाते थे।

थोड़े ही समय में सुधीबाबू अजमेर में बसने वाले उन महतरों के आत्मीय हो गये।

और लिली ! अकेले सुधीबाबू की ही एक आवाज पर अजमेर के वे सहस्रों अभागे नर-नारी--समाज--का वह कुचला अछूत वर्ग वे हज़ारों स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी झोंपड़ियों से निकल-निकलकर सभास्थल में आ खड़े हुए।

फिर कैसे उन्होंने पुलिस के अत्याचार सहे थे, कहते-कहते सुधीबाबू की आँखें छलछला आती थीं।

लिली ! वहाँ हंडाटैक्स तो मिट गया और जाने कितने प्रकार को अन्य सुविधायें भी महतरों को मिल गयीं, किन्तु जिस बड़े सत्य को सुधीबाबू ने वहाँ पाया था उसे वे कभी नहीं भूले।”

“वही तो मैं सुनना चाहती हूँ।”

“कहते थे—जिनमें हमें काम करना है उन्हीं का एक अंग बनकर हमें रहना होगा। इसीलिए जिस वर्ग में उन्हें काम करना होता था, उसी में एक कोठरी लेकर जा बसते थे। फिर उस वर्ग में आग लगाते उन्हें देर नहीं लगती थी।

और इसीलिए कभी उनकी कोठरी होती थी दूध वाले भइयों में तो कभी ताँगेवालों में जा बसते थे।

लिली ! जाने कितनी बार उन्होंने मुझे बताया था कि जब लेनिन को उस बड़े देश रूस की जनता ने उच्चासन पर बिठाया जाने लगा उससे पूर्व वह किसी भोंपड़ी में ही रहता था और उसके शरीर के फटे चिथड़ों को उस दिन जनता ने फूलों से ढक दिया था। सो लिली ! जब इन्हीं लोगों के लिए काम करना है तब रहना भी इन्हीं में पड़ेगा—छोड़कर चले जाने से काम नहीं चलेगा।

अभी कुछ दिनों पहिले मैंने अखबारों में छपी एक खबर पढ़ी थी कि इसी बम्बई के एक काँग्रेसी मिनिस्टर के बँगले का फर्नीचर सीधा इंग्लैण्ड से आ रहा है।

उनकी चमचमाती गाड़ियाँ, उनका रहन-सहन, सिनेमा-अभिनेत्रियों से मिलना-जुलना तो मैं रोज ही देखती हूँ।

तब लिली ! मुझे लगता है जैसे इस देश का दुर्भाग्य मिटने में अभी बहुत समय लगेगा।

लिली ! उस समय को लाने के लिए कुछ लोगों को अपना सब कुछ मटियामेट कर डालना होगा—सब कुछ ? तभी कुछ हो सकेगा।” कहते-कहते चुप हो गयीं।

फिर बोली—“नहीं लिली ! मैं यह भोंपड़ी छोड़कर कभी न चल सकूँगी।”

भोंपड़ी के एक कोने में मिट्टी का धुँधला दिया जल रहा था। मैं चुपचाप उसी ओर देख रही थी। देखते-देखते सोचने लगी—

यह नीलिमा दीदी भी ऐसा ही शून्य का बुझता दीप है। उनके चारों ओर भी आलोक का घृत है। न जाने कैसे घनीभूत अंधकार को अपने में समेटे—अपनी ही ज्वाला में पल-पल, क्षण-क्षण गलती जा रही हैं।

तभी उन भोंपड़ियों में से किसी के रोने की आवाज आयी। मेरा ध्यान टूट गया। वे बालों--“लिती ! अभी लौट आऊँगी। ज़रा देख आऊँ उधर !

लगता है वही हरदू रो रहा है, जब तक जीवित रही दिन-रात कलह करता रहा और अब लगता है प्राण ही दे बैठेगा। अच्छा जाती हूँ।” कहते-कहते वे चली गयीं।

कुछ देर मैं चुन-चाप उसी धुँधले दिये की ओर देखती रही। मच्छर जिस अंग में अपना डंक चुभो जाते थे उसी को अशोक बारम्बार सोते-सोते खुजला उठता था। मैंने उसे कुछ उठाने के लिए दीदी के नीचे बिछी चादर को खींचा। तभी वह मोटी नीले रंग की कापी खिच आयी।

उस चादर से अशोक के उबड़े अंगों को ढककर मैं उस कापी को उलटने-पुलटने लगी। कापी के पहिले पृष्ठ पर दीदी का नाम लिखा था। उन्होंने उस कापी में तारीखें लगा-लगा कर अपने विचार लिखे थे।

पढ़ते-पढ़ते मेरे प्राण काँप उठे। लगा जैसे साँस लेना भी कठिन होता जा रहा है, मैंने उस कापी में पढ़ा—

न जाने क्यों मन सदा तुम्हें ‘प्राण’ कहकर पुकारना चाहता है।

प्राण !

लाख प्रयत्न करने पर भी मैं तुम्हें पा नहीं सकी। तुम्हारा दिया हुआ इतना बड़ा दुख भी मैंने सह लिया। शायद इसीलिए कि स्वयं मैंने ही तो उसे आमंत्रित किया था, क्योंकि तब दूट

जाने का भय मुझे नहीं था, न वैसी कल्पना ही।

किन्तु—

जब सोचती हूँ कि तुमने मेरे प्रेम का अपमान किया है तो मैं तिलमिला जाती हूँ और तब मुझ से तुम्हारी वह निष्कलंक स्नेह-दृष्टि भी तो नहीं सही जाती।

फिर भी—

न जाने क्यों मन सदा तुम्हें 'प्राण' कहकर पुकारना चाहता है।

×

×

×

संध्या की इस बेला में—मैं बिल्कुल अकेली हूँ !

मेरी इस टूटी भोंपड़ी में एक गौरय्या परिवार आ बसा है। गौरय्या लौट आयी है, किन्तु उसका चिरसंगी नहीं लौटा है। नीड़ में बैठी वह गौरय्या छटपटाती-सी अपने उस सहचर को बुला रही है—मिलन की आतुरता रह-रह कर उसकी आँखों में दीप्त हो उठती है।

प्रियतम !

मैं जानती हूँ कि मैं तुम्हारा स्निग्ध सान्निध्य सदा-सदा के लिए खो चुकी हूँ, फिर भी न जाने क्यों यह ध्यान आते ही मैं तिलमिला उठती हूँ कि—

×

×

×

तुम दूर जा बसे हो !

अपने प्राणों की उस पीड़ा को—स्मृति की इन शत-शत स्पन्दित टीसों को मैं कैसे सहूँ ?

कैसे सहूँ मन में बसी इस घोर यातना को ? तुम्हारे आदर्शों अमनाओं की सम्पूर्ति में मैं धुली जा रही हूँ और—

प्रियतम !

तुम दूर जा बसे हो !

फिर आगे मैं कैसे भी उस कापी को न पढ़ सकी । सोचने लगी—जिसके दूर जा बसने की यातना को किसी भी भाँति नहीं सह पा रही है सो मुझ से क्यों छिपाया ? क्यों ?

अपनेपन को मिटाकर सुधीबाबू के आदर्शों की सम्पूर्ति ही है क्या इनका उद्देश्य और उसी को लेकर आ बसी हैं इस नरक में ?

तो सुधीबाबू के बीहड़ जीवन में जा बसने के लिए मुझे क्यों कहा था ? क्यों कहा था कि 'लिली ! जब से मैंने तुम्हें देखा है तभी से मुझे ऐसा लग रहा है जैसे ... ।"

नहीं दीदी ! मैं तुम्हें कभी क्षमा न कर सकूँगी । सुधीबाबू की जिस मृग-मरीचिका के पीछे दौड़-दौड़कर तुमने अपने को मिटा डाला, सो उसी ओर जाने की प्रेरणा मुझे क्यों दी ? क्यों दीदी ! किस जन्म का बदला लिया यह तुमने मुझ से

मुझे लगा-जैसे भोंपड़ी-आकाश सब कुछ अचानक घूम उठा है—सब कुछ मिट गया और मेरे चारों ओर फैला है तपता मरुस्थल ! मेरा रोम-रोम जल उठा । फिर एक पल के लिए भी मैं उस भोंपड़ी में न टिक सकी ।

चलते-चलते काँपते होठों से मैंने सुधीबाबू के अंश—उस अशोक के माथे का चूम लिया फिर हवा के भोंके की भाँति उड़ती पास में खड़ी अपनी गाड़ी में आ बैठी । तभी दीदी का कण्ठ-स्वर सुन पड़ा । वे गाड़ी की ओर दौड़ती न जाने क्या कहती आ रही थीं और मैं उन्हीं को कोसती उनसे दूर भागी जा रही थी ।

घर-द्वार, जमीन-जायदाद सब कुछ सुधीबाबू के नाम लिखा कर मैं बम्बई से चली आयी हूँ। दैनिक पत्रों में ही एक दिन पढ़ा था कि सुधीबाबू योरुप से लौट आये हैं।

फिर कुछ दिनों बाद पढ़ा कि अपनी मिल को समाजवादी आधार पर चलाकर सारे देश के पूँजीपतियों की आँखों में काँटे की भाँति खटक उठे हैं।

फिर आये दिन दूसरी मिलों की हड़तालें—समझौते पूँजीपतियों द्वारा मिल बन्द करने की धमकी—मजदूरों की बेरोज़गारी—

लगता है जैसे समूचे देश के मजदूरों की उस क्रान्ति की बागडोर सुधीबाबू और नीलिमा दीदी के हाथ में है।

वे लड़ रहे हैं जाने अपने कैसे सुनहले स्वप्न को पूरा करने के लिए—जाने कैसे वर्गहीन समाज की रचना का ध्येय लेकर ...

किन्तु—

मैं ? जैसे पूँजीवादी परम्परा का एक बुझता दीप हूँ।

तभी अन्तिम क्षणों में कभी लगता है जैसे सब कुछ मिट गया, निविड़ अंधकार, और मैं हूँ उस घर्नाभूत अंधकार का भटकता कण ! बुझने के इन दूसरे पल ही में दीप्त हो जगमगा उठती हूँ। ऐसे ही मुझ में दिन-रात जागते रहते हैं आशा-निराशाओं के चक्रवात-अन्धड़ !

एक बोझा-सा लादे वर्षों से भटकती आ रही हूँ। सोचा था, समिधा भस्म हो चुकी है, किन्तु आज लगता है जैसे उस राख के

नीचे अब भी दहकते अंगारे शेष हैं। जो मुझे दिन-रात जलाये डालते हैं।

अपनी पीड़ा के इन अंगारों को आँसुओं की बूँदों से जब कैसे भी न बुझा पायी तो लिखने बै गयी। लिखकर भी बुझा सकूँगी या.....

मानती हूँ कि प्रतीची की पूँजीवादी दीवट पर रखे उस बुझते दीप की मैं वर्तिका हूँ। परम्परा के उजड़े उस उपवन का भरा फूल ! जिसकी पंखुड़ियाँ बिखरी जा रही हैं—तो क्या यही है मेरे इस जीवन का भवितव्य ?

क्या करूँ ? मैं अपने वंशगत कुसंस्कारों को लेकर किसी भी प्रकार इन नये प्रज्वलित दीपों में अपनी जगह नहीं बना पाती किन्तु न जाने क्यों मेरा यह मायावी मन हवा के झोंकों से भरे फूल की भाँति उड़कर उन्हीं के पगों में जा पड़ने के लिए दिन-रा छटपटाता रहता है...

